॥ श्रीहरिः ॥

गीता-माधुर्य

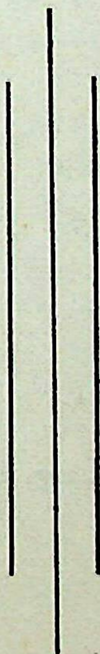


स्वामी रामसुखदास



॥ श्रीहरिः ॥

गीता-माधुर्य



स्वामी रामसुखदास

गी॰मा॰हि॰ १—

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०४२ से २०४७ तक	१,२०,०००
सं० २०४८ छठा संस्करण	२०,०००
	कुल १,४०,०००

मूल्य—छः रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

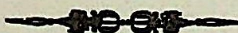
श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्यमात्रको सही मार्ग दिखानेवाला सार्वभौम महाग्रन्थ है। लोगोंमें इसका अधिक-से-अधिक प्रचार हो, इस दृष्टिसे परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने इस ग्रन्थको प्रश्नोत्तर-शैलीमें बड़े सरल ढंगसे प्रस्तुत किया है, जिससे गीता पढ़नेमें सर्वसाधारण लोगोंकी रुचि पैदा हो जाय और वे इसके अर्थको सरलतासे समझ सकें। नित्यपाठ करनेके लिये भी यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

पाठकोंसे मेरा निवेदन है कि इस पुस्तकको स्वयं भी पढ़ें और अपने मित्रों, सगे-सम्बन्धियों आदिको भी पढ़नेके लिये प्रेरित करें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-अनुक्रमणिका



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीगणेशाय नमः

—:गीता-माधुर्य:—

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥
जिज्ञासापूर्तये टीका लिखिता साधकस्य या।
संजीवनीप्रवेशाय माधुर्यं लिख्यते मया॥

पहला अध्याय

पाण्डवोंने बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास समाप्त होनेपर जब पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार अपना आधा राज्य माँगा, तब दुर्योधनने आधा राज्य तो क्या, तीखी सुईकी नोक जितनी जमीन भी बिना युद्धके देनी स्वीकार नहीं की। अतः पाण्डवोंने माता कुन्तीकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पाण्डवों और कौरवोंके बीच युद्ध होना निश्चित हो गया तथा दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

महर्षि वेदव्यासजीका धृतराष्ट्रपर बहुत स्नेह था। उस स्नेहके कारण उन्होंने धृतराष्ट्रके पास आकर कहा कि 'युद्ध होना और उसमें क्षत्रियोंका महान् संहार होना अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। यदि तुम युद्ध देखना चाहते हो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ, जिससे तुम यहीं बैठे-बैठे युद्धको अच्छी तरहसे देख सकते

हो।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं जन्मभर अन्धा रहा, अब अपने कुलके संहारको मैं देखना नहीं चाहता; परन्तु युद्ध कैसे हो रहा है—यह समाचार जरूर जानना चाहता हूँ।' व्यासजीने कहा कि 'मैं संजयको दिव्य दृष्टि देता हूँ जिससे यह सम्पूर्ण युद्धको, सम्पूर्ण घटनाओंको, सैनिकोंके मनमें आयी हुई बातोंको भी जान लेगा, सुन लेगा, देख लेगा और सब बातें तुम्हें सुना भी देगा।' ऐसा कहकर व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की। उधर निश्चित समयके अनुसार कुरुक्षेत्रमें दोनों सेनाएँ युद्धके लिये तैयार थीं।

अब प्रश्न होता है कि जब युद्धके लिये दोनों सेनाएँ तैयार थीं, ऐसे मौकेपर भगवान्‌ने अर्जुनको गीताका उपदेश क्यों दिया?

शोक दूर करनेके लिये ही भगवान्‌ने अर्जुनको गीताका उपदेश दियाँ।

अर्जुनको शोक कब हुआ और क्यों हुआ?

जब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें अपने ही निजी कुटुम्बियोंको देखा कि दोनों तरफ हमारे ही कुटुम्बी मरेंगे, तब ममताके कारण उनको शोक हुआ।

अर्जुनने दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियोंको क्यों देखा?

भगवान् श्रीकृष्णने जब दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करके अर्जुनसे कहा कि 'तुम युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए इन कुरुवंशियोंको देखो' तब अर्जुनने अपने कुटुम्बियोंको देखा।

भगवान्ने दोनों सेनाओंमें कुरुवंशियोंको देखनेके लिये क्यों कहा?

अर्जुनने पहले भगवान्से कहा था कि 'हे अच्युत! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो, जिससे मैं देखूँ कि यहाँ मेरे साथ दो हाथ करनेवाले कौन हैं?'

अर्जुनने ऐसा क्यों कहा?

जब युद्धकी तैयारीके बाजे बजे, तब उत्साहमें भरकर अर्जुनने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा।

बाजे क्यों बजे?

कौरवसेनाके मुख्य सेनापति भीष्मजीने जब सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शंख बजाया, तब कौरवसेनाके बाजे बजे और पाण्डव सेनाके भी बाजे बजे।

भीष्मजीने शंख क्यों बजाया?

दुर्योधनको हर्षित करनेके लिये भीष्मजीने शंख बजाया।

दुर्योधन अप्रसन्न क्यों था?

दुर्योधनने गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा कि 'आपके प्रतिपक्षमें पाण्डवोंकी सेना खड़ी है, इसको देखिये अर्थात् जिन पाण्डवोंपर आप प्रेम-स्नेह रखते हैं, वे ही आपके विरोधमें खड़े हैं। पाण्डवसेनाकी व्यूह-रचना भी धृष्टद्युम्नके द्वारा की गयी है, जो आपको मारनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार दुर्योधनकी चालाकीसे, राजनीतिसे भरी हुई तीखी बातोंको सुनकर द्रोणाचार्य चुप रहे, कुछ बोले नहीं। इससे दुर्योधन अप्रसन्न हो गया।

द्रोणाचार्य चुप क्यों रहे?

दुर्योधनने द्रोणाचार्यको उकसानेके लिये चालाकीसे राजनीतिकी जो बातें कहीं, वे बातें द्रोणाचार्यको बुरी लगीं। उन्होंने यह सोचा कि अगर मैं इन बातोंका खण्डन करूँ, तो युद्धके मौकेपर आपसमें खटपट हो जायगी, जो उचित नहीं है। मैं इन बातोंका अनुमोदन भी नहीं कर सकता; क्योंकि यह चालाकीसे बातचीत कर रहा है; सरलतासे बातचीत नहीं कर रहा है। इसलिये द्रोणाचार्य चुप रहे।

दुर्योधनने ऐसी बातें कब कहीं और क्यों कहीं ?

दुर्योधनने व्यूहाकार खड़ी हुई पाण्डवसेनाको देखकर गुरु द्रोणाचार्यको उकसानेके लिये ऐसी बातें कहीं। इसका वर्णन संजयने धृतराष्ट्रके प्रति किया है।

संजयने यह वर्णन धृतराष्ट्रके प्रति क्यों किया?

जब धृतराष्ट्रने युद्धकी कथाको आरम्भसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहा, तब संजयने ये सब बातें धृतराष्ट्रसे कहीं।

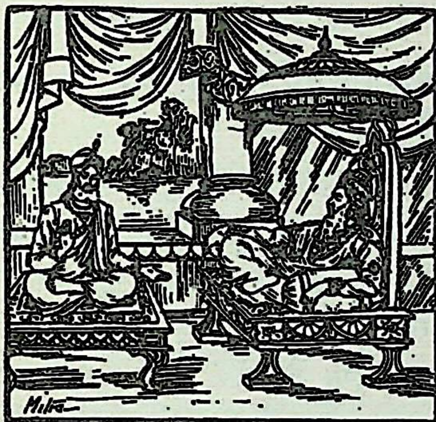
धृतराष्ट्रने संजयसे क्यों सुनना चाहा?

दस दिन युद्ध होनेके बाद संजयने अचानक आकर धृतराष्ट्रसे यह कहा कि 'कौरव-पाण्डवोंके पितामह, शान्तनुके पुत्र भीष्म मारे गये (रथसे गिरा दिये गये)। जो सम्पूर्ण योद्धाओंमें मुख्य और सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ थे, ऐसे पितामह भीष्म आज शर-शय्यापर सो रहे हैं।' इस समाचारको सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा दुःख हुआ और वे विलाप करने लगे। फिर उन्होंने संजयसे युद्धका सारा वृत्तान्त सुनानेके लिये कहा और पूछा—

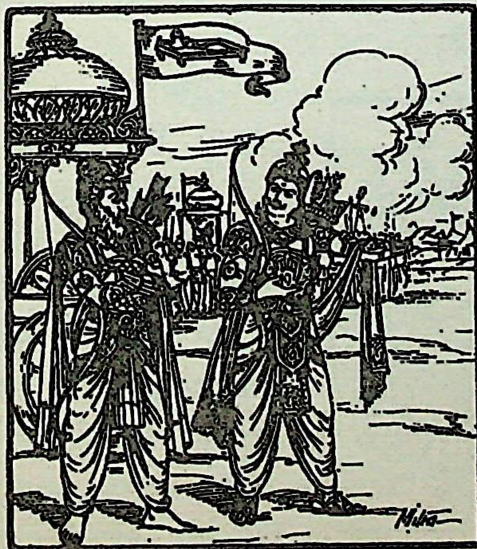
हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे

और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?॥१॥

संजय बोले—उस समय व्यूह-रचनासे खड़ी हुई पाण्डवोंकी सेनाको देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया और उनसे कहा कि 'हे आचार्य ! आप अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूह-रचनासे खड़ी की हुई पाण्डवोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये'॥२-३॥



पाण्डवोंकी सेनामें मैं किन-किनको देखूँ दुर्योधन ?



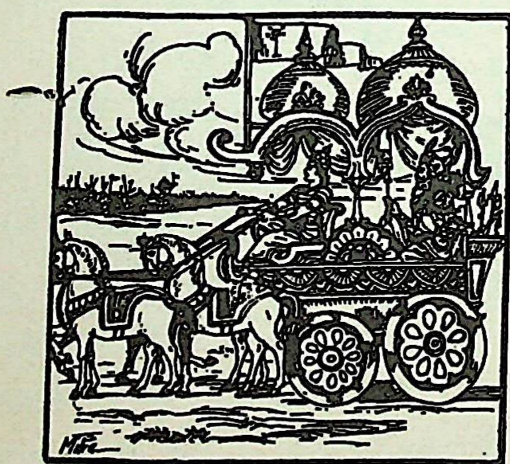
पाण्डवोंकी इस सेनामें बड़े-बड़े शूरवीर हैं, जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो बलमें भीमके समान और युद्धकलामें अर्जुनके समान हैं। इनमें युयुधान (सात्यकि), राजा विराट और महारथी द्रुपद भी हैं। धृष्टकेतु, चेकितान और पराक्रमी काशिराज भी हैं। क्योंकि

पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये दोनों भाई तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य भी हैं। पराक्रमी युधामन्यु और बलवान् उत्तमौजा भी हैं। सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी हैं। ये सब-के-सब महारथी हैं ॥ ४—६

पाण्डवसेनाके शूरवीरोंके नाम तो तुमने बता दिये, पर अपनी सेनाके शूरवीर कौन-कौन हैं दुर्योधन ?

हे द्विजोत्तम! हमारी सेनामें जो विशेष-विशेष पुरुष हैं, उनपर भी ध्यान दीजिये। आप (द्रोणाचार्य), पितामह भीष्म, कर्ण, संग्रामविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा तथा इनके सिवाय और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये अपने जीनेकी इच्छाका भी त्याग कर दिया है और जो अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चलानेमें निपुण तथा युद्धकलामें अत्यन्त चतुर हैं ॥७—९॥

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान योद्धाओंको दिखानेके बाद दुर्योधनने क्या किया संजय ?



दुर्योधनने अपने मनमें विचार किया कि उभयपक्षपाती (दोनोंका पक्ष लेने-वाले) भीष्मके द्वारा रक्षित हमारी सेना पाण्डवसेनापर विजय करनेमें असमर्थ है और निजपक्षपाती (केवल अपना ही पक्ष

लेनेवाले) भीमके द्वारा रक्षित पाण्डवोंकी सेना हमारी सेनापर विजय करनेमें समर्थ है ॥१०॥

मनमें ऐसा विचार करनेके बाद दुर्योधनने क्या किया ?

उसने सभी शूरवीरोंसे कहा कि 'आप सब-के-सब लोग अपने-अपने मोर्चोंपर दृढ़तासे स्थित रहते हुए ही पितामह भीष्मकी चारों ओरसे रक्षा करें'* ॥ ११ ॥

अपनी रक्षाकी बात सुनकर भीष्मजीने क्या किया ?

पितामह भीष्मने दुर्योधनको प्रसन्न करते हुए सिंहके समान गरजकर बड़े जोरसे शंख बजाया ॥ १२ ॥

भीष्मजीके द्वारा शंख बजानेके बाद क्या हुआ संजय ?

भीष्मजीने तो दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शंख बजाया था, पर कौरवसेनाने इसको युद्धारम्भकी घोषणा ही समझी। अतः भीष्मजीके शंख बजाते ही कौरवसेनाके शंख, भेरी, ढोल, मृदंग आदि बाजे एक साथ बज उठे। उनका शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥१३॥

कौरवसेनाके बाजे बजनेके बाद क्या हुआ संजय ?

कौरवसेनाके बाजे बजनेके बाद पाण्डवसेनाके बाजे बजने चाहिये थे, पर उस सेनाको कोई आज्ञा नहीं मिली। तब सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने 'पाञ्चजन्य' नामक और अर्जुनने 'देवदत्त' नामक दिव्य शंखको बड़े जोरसे बजाया। उसके

* दुर्योधन यह जानता था कि द्रोण और भीष्म उभयपक्षपाती हैं। अतः उनको राजी करके अपने पक्षमें लानेके लिये दुर्योधन पहले जैसे द्रोणाचार्यके पास गया, ऐसे ही यहाँ भीष्मको राजी करनेके लिये सभी वीरोंसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये कह रहा है।

बाद भीमने 'पौण्ड्र' नामक, युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय' नामक, नकुलने 'सुघोष' नामक और सहदेवने 'मणिपुष्पक' नामक शंख बजाये ॥१४—१६॥

फिर और किसने शंख बजाये ?

हे राजन्! फिर पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और महाबाहु सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभी महारथियोंने अपने-अपने शंख बजाये ॥१७-१८॥

पाण्डवसेनाकी उस शंख-ध्वनिका क्या परिणाम हुआ ?

पाण्डवसेनाके शंखोंकी उस भयंकर ध्वनिने आकाश और पृथ्वीको गुँजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले कौरवोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥१९॥

शंख बजानेके बाद पाण्डवोंने क्या किया संजय ?

हे महीपते! शंखोंके बजनेके बाद युद्ध आरम्भ होनेके समय आपके सम्बन्धियों-(कौरवों-) को देखकर कपिध्वज अर्जुनने अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे बोले कि 'हे अच्युत! आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दीजिये' ॥ २०-२१ ॥

रथको बीचमें क्यों खड़ा करूँ अर्जुन ?

मैं इस रणभूमिमें खड़े हुए इन युद्धकी इच्छावाले शूरवीरोंको देख लूँ कि मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है। यहाँ युद्धमें जो ये राजालोग दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए हैं, उनको भी मैं देख लूँ ॥२२-२३॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान्‌ने क्या किया संजय ?

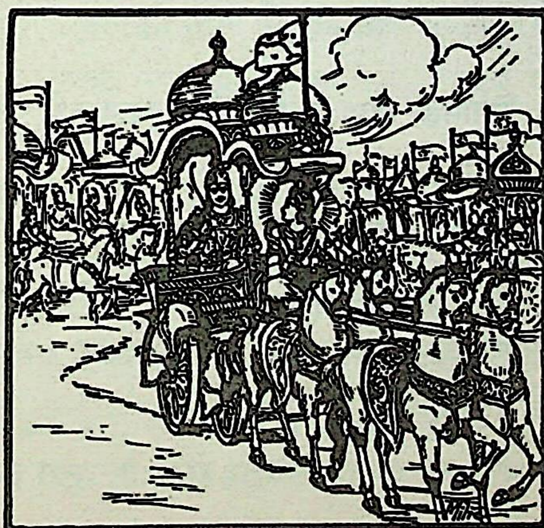
संजय बोले— हे राजन्! निद्राविजयी अर्जुनके द्वारा ऐसा कहनेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने रथको खड़ा करके कहा कि 'हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कुरुवंशियोंको देख' ॥ २४-२५ ॥

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर क्या हुआ ?

तब वहाँ दोनों सेनाओंमें स्थित पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र तथा मित्र, ससुर और सुहृद् तथा इनके सिवाय अन्य कई सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त होकर विषाद करते हुए बोले।

अर्जुन क्या बोले संजय ?

अर्जुन बोले— हे कृष्ण! अपने खास कुटुम्बियोंको युद्धके लिये



सामने खड़े हुए देखकर मेरे सब अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीरमें कँपकँपी आ रही है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं, हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित हो रहा है और मैं खड़े रहनेमें

भी असमर्थ हो रहा हूँ ॥२९—३०॥

इसके सिवाय और क्या देख रहे हो अर्जुन ?

हे केशव! मैं शकुनोंको भी विपरीत देख रहा हूँ और युद्धमें इन कुटुम्बियोंको मारकर कोई लाभ भी नहीं देख रहा हूँ ॥३१॥

इनको मारे बिना राज्य कैसे मिलेगा ?

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुखोंको ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हमलोगोंको राज्यसे, भोगोंसे अथवा जीनेसे भी क्या लाभ ? ॥३२॥

तुम विजय आदि क्यों नहीं चाहते ?

हम जिनके लिये राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही ये सब-के-सब लोग अपने प्राणोंकी और धनकी आशाको छोड़कर युद्धके लिये खड़े हैं ॥३३॥

वे लोग कौन हैं अर्जुन ?

आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी बहुत-से सम्बन्धी हैं ॥३४॥

ये ही लोग अगर तुम्हें मारनेके लिये तैयार हो जायँ, तो ?

ये भले ही मुझे मार डालें, पर हे मधुसूदन! मुझे त्रिलोकीका राज्य मिल जाय तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वीके राज्यके लिये तो कहना ही क्या है ?॥३५॥

अरे भैया! राज्य मिलनेपर तो बड़ी प्रसन्नता होती है, क्या तुम उसको भी नहीं चाहते ?

हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्रके सम्बन्धियोंको (जो कि हमारे भी सम्बन्धी हैं) मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा। इसलिये हे माधव! इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको हम मारना नहीं चाहते; क्योंकि हे माधव! अपने कुटुम्बियोंको मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ॥३६-३७॥

ये तो तुम्हें मारनेके लिये तैयार ही हैं, तुम ही पीछे क्यों हट रहे हो ?

महाराज! इनका तो लोभके कारण विवेक-विचार लुप्त हो गया है, इसलिये ये दुर्योधन आदि कुलके नाशसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको नहीं देख रहे हैं, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे होनेवाले दोषको जाननेवाले हमलोगोंको तो इस पापसे बचना ही चाहिये ॥३८-३९॥

अगर कुलका नाश हो भी जाय तो क्या होगा ?

कुलका नाश होनेपर सदासे चले आये कुलधर्म (कुल-परम्परा) नष्ट हो जाते हैं।

कुलधर्मके नष्ट होनेपर क्या होता है ?

कुलधर्मके नष्ट होनेपर सम्पूर्ण कुलमें अधर्म फैल जाता है ॥४०॥

अधर्मके फैल जानेसे क्या होता है ?

अधर्मके फैल जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं।

स्त्रियोंके दूषित होनेसे क्या होता है ?

स्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर पैदा होता है ॥४१॥

वर्णसंकर पैदा होनेसे क्या होता है ?

वह वर्णसंकर कुलघातियों-(कुलका नाश करनेवालों-) को और सम्पूर्ण कुलको नरकोंमें ले जानेवाला होता है तथा पिण्ड और पानी (श्राद्ध-तर्पण) न मिलनेसे उनके पितर भी अपने स्थानसे गिर जाते हैं। इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियोंके सदासे चलते आये कुलधर्म और जातिधर्म— दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥४२-४३॥

जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्योंका क्या होता है ?

हे जनार्दन! उन मनुष्योंको बहुत समयतक नरकोंमें निवास करना पड़ता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥४४॥

युद्धके ऐसे परिणामको जब तुम पहलेसे ही जानते हो, तो फिर तुम युद्धके लिये तैयार ही क्यों हुए ?

यही तो बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि हमलोग बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय कर बैठे हैं, जो कि राज्य और सुखके लोभसे अपने कुटुम्बियोंको मारनेके लिये तैयार हो गये हैं ॥४५॥



अब तुम क्या करना चाहते हो ?

मैं अस्त्र-शस्त्र छोड़कर युद्धसे हट जाऊँगा। अगर मेरेद्वारा ऐसा करनेपर भी दुर्योधन आदि मुझे मार दें तो वह

मारना भी मेरे लिये बड़ा हितकारक होगा ॥४६॥

ऐसा कहनेके बाद अर्जुनने क्या किया संजय ?

संजय बोले—ऐसा कहकर शोकसे व्याकुल मनवाले अर्जुनने बाणसहित धनुषका त्याग कर दिया और रथके मध्यभागमें बैठ गये ॥ ४७ ॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

दूसरा अध्याय

रथके मध्यभागमें बैठ जानेपर अर्जुनकी क्या दशा हुई संजय ?

संजय बोले—हे राजन्! जो बड़े उत्साहसे युद्ध करने आये थे, पर कायरताके कारण जो विषाद कर रहे हैं और जिनके नेत्रोंमें इतने आँसू भर आये हैं कि देखना भी मुश्किल हो रहा है, ऐसे अर्जुनसे भगवान् मधुसूदन बोले कि हे अर्जुन! इस बेमौकेपर तेरेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी? यह कायरता न तो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा धारण करने लायक है, न स्वर्ग देनेवाली है और न कीर्ति करनेवाली ही है। इसलिये हे पार्थ! तू इस नपुंसकताको अपनेमें मत आने दे; क्योंकि तेरे जैसे पुरुष-में इसका आना उचित नहीं है। अतः हे परंतप ! हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताको छोड़कर तू युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥१—३॥

ऐसा सुनकर अर्जुन क्या बोले संजय ?

—अर्जुन बोले—महाराज! मैं मरनेसे थोड़े ही डरता हूँ, मैं तो मारनेसे डरता हूँ। हे अरिसूदन! ये भीष्म और द्रोण तो पूजा करनेयोग्य हैं। इसलिये हे मधुसूदन! ऐसे पूज्यजनोंको तो कटु शब्द भी नहीं कहना चाहिये, फिर उनके साथ मैं बाणोंसे युद्ध कैसे करूँ? ॥४॥

अरे भैया! केवल कर्तव्य-पालनके सामने और भी कुछ देखा जाता है क्या ?

महाराज! महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस मनुष्यलोकमें

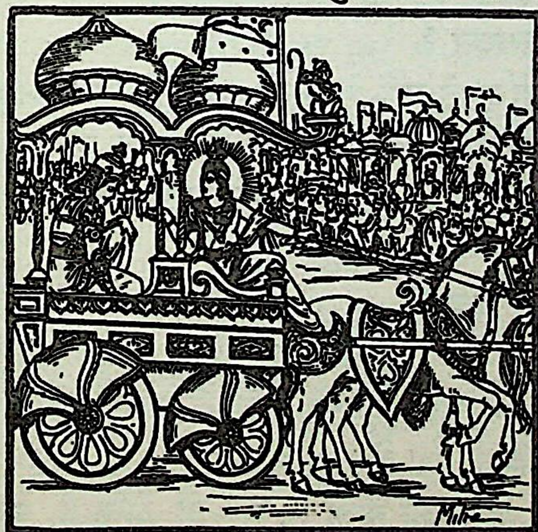
भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करना भी श्रेष्ठ समझता हूँ। अगर आपके कहे अनुसार मैं युद्ध भी करूँ तो गुरुजनोंको मारकर उनके खूनसे लथपथ तथा धनकी कामनाकी मुख्यतावाले भोगोंको ही तो भोगूँगा ! इससे मुझे शान्ति थोड़े ही मिलेगी ! ॥ ५॥

फिर तुम क्या करना ठीक समझते हो ?

हे भगवन्! हमलोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि युद्ध करना ठीक है या युद्ध न करना ठीक है तथा युद्धमें हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे। सबसे बड़ी बात तो यह है भगवन्! कि हम जिनको मारकर जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं। फिर इनको हम कैसे मारें ?॥६॥

जब तुम निर्णय नहीं कर सकते, तो फिर तुमने क्या उपाय सोचा ?

हे महाराज! कायरताके दोषसे मेरा क्षात्र स्वभाव दब गया है और धर्मका निर्णय करनेमें मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है, इसलिये जिससे



मेरा निश्चित कल्याण हो, वह बात मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ और आपके ही शरण हूँ। आप मुझे शिक्षा दीजिये।

परन्तु महाराज ! आपने पहले जैसे युद्ध करनेके लिये कह दिया था, वैसा फिर न कहें;

युद्धके परिणाममें मुझे यहाँका धन-धान्यसे सम्पन्न और निष्कण्टक राज्य मिल जाय अथवा देवताओंका आधिपत्य मिल जाय, तो भी मेरा यह इन्द्रियोंको सुखानेवाला शोक दूर हो जाय—ऐसा मैं नहीं देखता ॥७-८॥

फिर क्या हुआ संजय ?

संजय बोले—हे राजन्! निद्राविजयी अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'— ऐसा साफ-साफ कहकर चुप हो गये ॥९॥

अर्जुनके चुप होनेपर भगवान्‌ने क्या कहा ?

अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण दोनों सेनाओंके मध्यभागमें विषाद करते हुए अर्जुनसे मुस्कराते हुए कहने लगे—तू शोक न करने लायकका शोक करता है और पण्डिताईकी-सी बड़ी-बड़ी बातें बघारता है; परन्तु जो मर गये हैं, उनके लिये और जो जीते हैं, उनके लिये भी पण्डितलोग शोक नहीं करते ॥१०-११॥

शोक क्यों नहीं करते भगवन् ?

मैं, तू और ये राजालोग पहले नहीं थे—यह बात भी नहीं है और हम सब आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है अर्थात् हम सब पहले भी थे और आगे भी रहेंगे—ऐसा जानकर पण्डितलोग शोक नहीं करते ॥१२॥

इस बातको कैसे समझा जाय ?

अरे भैया! देहधारीके इस शरीरमें जैसे कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही देहधारीको दूसरे शरीरोंकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें पण्डितलोग मोहित नहीं होते ॥१३॥

कुमार आदि अवस्थाएँ शरीरकी होती हैं, यह तो ठीक है, पर

अनुकूल-प्रतिकूल, सुखदायी-दुःखदायी पदार्थ सामने आ जायँ, तब क्या करें भगवन् ?

हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके जितने विषय (जड पदार्थ) हैं, वे सभी अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। परन्तु वे आने-जानेवाले और अनित्य ही हैं। इसलिये हे अर्जुन! उनको तुम सहन करो अर्थात् उनमें तुम निर्विकार रहो ॥१४॥

उनको सहनेसे, उनमें निर्विकार रहनेसे क्या लाभ होता है ?

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःखमें समान (निर्विकार) रहनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय (जड पदार्थ) सुखी-दुःखी नहीं करते, वह स्वतःसिद्ध अमरता-(परमात्माकी प्राप्ति-) का अनुभव कर लेता है ॥१५॥

वह अमरताका अनुभव कैसे कर लेता है ?

सत्-(चेतन तत्त्व-) की सत्ताका कभी अभाव नहीं होता और असत्-(जड पदार्थों-) की सत्ता ही नहीं है— इन दोनोंके तत्त्वको तत्त्वदर्शी-(ज्ञानी-) महापुरुष जान लेते हैं, इसलिये वे अमर हो जाते हैं ॥१६॥

वह सत् (अविनाशी) क्या है भगवन् ?

जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उसको तुम अविनाशी समझो। इस अविनाशीका विनाश कोई भी नहीं कर सकता ॥१७॥

असत् (विनाशी) क्या है भगवन् ?

इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहनेवाले शरीरीके ये सब शरीर अन्तवाले हैं, विनाशी हैं। इसलिये हे अर्जुन! तुम अपने युद्धरूप कर्तव्य-कर्मका पालन करो ॥१८॥

युद्धमें तो मरना-मारना ही होता है; इसलिये अगर शरीरीको मरने-मारनेवाला मानें, तो ?

जो इस अविनाशी शरीरीको शरीरोंकी तरह मरनेवाला मानता है और जो इसको मारनेवाला मानता है, वे दोनों ही ठीक नहीं जानते; क्योंकि यह न किसीको मारता है और न स्वयं मारा जाता है ॥१९॥

यह शरीरी मरनेवाला क्यों नहीं है भगवन् ?

यह शरीरी न तो कभी पैदा होता है और न कभी मरता ही है। यह पैदा होकर फिर होनेवाला नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और अनादि है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ॥२०॥

ऐसा जाननेसे क्या होगा ?

हे पार्थ! जो मनुष्य इस शरीरीको अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसीको मार सकता है और कैसे किसीको मरवा सकता है ?॥२१॥

तो फिर मरता कौन है भगवन् ?

अरे भैया! शरीर मरता है। मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़ोंको धारण करता है, ऐसे ही यह शरीरी पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है ॥२२॥

नये-नये शरीरोंको धारण करनेसे इसमें कोई-न-कोई विकार तो आता ही होगा ?

नहीं, इसमें कभी कोई विकार नहीं आता; क्योंकि इस शरीरीको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती ॥२३॥

यह शस्त्र आदिसे कटता, जलता, गलता और सूखता क्यों नहीं ?

यह शरीरी काटा भी नहीं जा सकता, जलाया भी नहीं जा सकता, गीला भी नहीं किया जा सकता और सुखाया भी नहीं जा सकता; क्योंकि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, स्थिर स्वभाववाला, अचल और अनादि है। यह देही इन्द्रियों आदिका विषय नहीं है अर्थात् यह प्रत्यक्ष नहीं दीखता। यह अन्तःकरणका भी विषय नहीं है और इसमें कोई विकार भी नहीं होता है। इसलिये इस देहीको ऐसा जानकर तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥२४॥

इस शरीरीको निर्विकार माननेपर तो शोक नहीं हो सकता, पर इसे विकारी माननेपर तो शोक हो ही सकता है ?

हे महाबाहो! अगर तू इस शरीरीको नित्य पैदा होनेवाला और नित्य मरनेवाला भी मान ले, तो भी तुझे इसका शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो पैदा हुआ है, वह जरूर मरेगा और जो मर गया है, वह जरूर पैदा होगा—इस नियमको कोई हटा नहीं सकता। अतः शरीरीको लेकर तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥२६-२७॥

शरीरीको लेकर शोक नहीं करना चाहिये यह तो ठीक है; पर भगवन्! शरीरको लेकर तो शोक होता ही है ?

शरीरको लेकर भी शोक नहीं हो सकता; क्योंकि हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद फिर अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें प्रकट दीखते हैं। अतः इसमें शोक करनेकी बात ही कौन-सी है? ॥२८॥

तो फिर शोक क्यों होता है ?

न जाननेसे।

जानना कैसे हो ?

वह जानना अर्थात् अनुभव करना इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिसे

नहीं होता, इसलिये इस शरीरीको देखना, कहना, सुनना सब आश्चर्यकी तरह ही होता है। अतः इसको सुन करके कोई भी नहीं जान सकता अर्थात् इसका अनुभव तो स्वयंसे ही होता है ॥२९॥

तो फिर वह कैसा है ?

हे भरतवंशी अर्जुन! सबके देहमें रहनेवाला यह देही नित्य ही अवध्य है, ऐसा जानकर तुझे किसी भी प्राणीके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥३०॥

शोक दूर करनेकी तो आपने बहुत-सी बातें बता दीं, पर मुझे जो पापका भय लग रहा है, वह कैसे दूर हो ?

अपने धर्म-(क्षात्र धर्म-) को देखकर भी तुझे भयभीत नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्ममय युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है ॥३१॥

तो क्या क्षत्रियको युद्ध करते ही रहना चाहिये ?

नहीं भैया, जो युद्ध आप-से-आप प्राप्त हो जाय, सामने आ जाय, वह युद्ध तो क्षत्रियके लिये स्वर्ग जानेका खुला दरवाजा है। इसलिये हे पार्थ! ऐसा युद्ध जिन क्षत्रियोंको प्राप्त होता है, वे ही वास्तवमें सुखी हैं *॥३२॥

ऐसे आप-से-आप प्राप्त युद्धको मैं न करूँ, तो ?

अगर तू ऐसे धर्ममय युद्धको नहीं करेगा, तो तेरे क्षात्र धर्मका और तेरी कीर्तिका नाश होगा तथा तेरेको कर्तव्यपालन न करनेका पाप भी लगेगा ॥३३॥

---

* भोगोंका मिलना कोई सुख नहीं है, प्रत्युत वह तो महान् दुःखोंका कारण है(५।२२)। वास्तविक सुख वही है, जो दुःखसे रहित हो। दुःखसे रहित सुख यही है कि स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्म करनेका अवसर मिल जाय। अतः जिनको कर्तव्यपालनका अवसर प्राप्त हुआ है, वे ही वास्तवमें सुखी और भाग्यशाली हैं।

अपकीर्तिसे क्या होगा ?

अरे भैया! तू युद्ध नहीं करेगा तो सभी मनुष्य तेरी बहुत दिनोंतक रहनेवाली अपकीर्तिका कथन करेंगे। वह अपकीर्ति आदरणीय, सम्माननीय मनुष्यके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायी होती है* ॥ ३४ ॥

और क्या होगा भगवन् ?

जिन भीष्म, द्रोणाचार्य आदि महारथियोंकी दृष्टिमें तू श्रेष्ठ माना गया



है, उनकी दृष्टिमें तू तुच्छताको प्राप्त हो जायगा और वे महारथीलोग तेरेको मरनेके भयके कारण युद्धसे उपरत हुआ मानेंगे ॥३५॥

फिर क्या होगा भगवन् ?

फिर तो बहुत ही भयंकर बात होगी कि तेरे शत्रुओंको वैरभाव

* मरनेमात्रसे अपकीर्ति नहीं होती; क्योंकि मरना तो हरेकका होता ही है। अपकीर्ति तो अपने कर्तव्यसे च्युत होनेसे ही होती है।

निकालनेका मौका मिल जायगा। वे तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे न कहनेलायक बहुत-से वचन कहेंगे। उससे बढ़कर और दुःख क्या होगा?॥३६॥

और अगर मैं युद्ध करूँ, तो ?

युद्ध करते हुए अगर तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिल जायगा और अगर युद्धमें तू जीत जायगा तो तुझे पृथ्वीका राज्य मिल जायगा। अतः हे कुन्तीनन्दन ! तू युद्धका निश्चय करके खड़ा हो जा ॥ ३७ ॥

पर युद्ध कैसे करना चाहिये भगवन् ?

तू जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें समबुद्धि रखकर युद्ध कर। इस प्रकार युद्ध करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा ॥३८॥

जिस समबुद्धिसे कर्म करते जरा भी पाप नहीं लगता, उसकी और क्या विशेषता है भगवन् ?

इस समबुद्धिकी बात मैंने पहले सांख्ययोगमें कह दी है। अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन—

१. इस समबुद्धिसे युक्त हुआ तू सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूट जायगा।
२. इस समबुद्धिके आरम्भमात्रका भी नाश नहीं होता।
३. इसके अनुष्ठानका कभी उलटा फल नहीं होता।
४. इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है॥ ३९-४० ॥

जिस समबुद्धिकी आपने इतनी महिमा गायी है, उसको प्राप्त करनेका उपाय क्या है ?

इस समबुद्धिकी प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका (एक परमात्मप्राप्तिके निश्चयवाली) बुद्धि एक ही होती है। परन्तु जिनका परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ (निश्चय) अनन्त और बहु-शाखाओंवाली होती हैं ।।४१।।

उनका परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय क्यों नहीं होता ?

१. जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं, २. स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, ३. वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें ही प्रीति रखनेवाले हैं तथा ४. भोगोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं—ऐसा कहनेवाले हैं, वे बेसमझ मनुष्य इस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीको कहा करते हैं, जो कि जन्मरूप कर्मफलको देनेवाली है तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है। भोगोंका वर्णन करनेवाली पुष्पित वाणीसे जिनका चित्त हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं हो सकती ।।४२—४४।।

भोग और ऐश्वर्यकी आसक्तिसे बचनेके लिये मेरेको क्या करना चाहिये भगवन् ?

वेद तीनों गुणोंके कार्य-(संसार-)का वर्णन करनेवाले हैं, इसलिये हे अर्जुन! तू वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंसे रहित हो जा, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जा और नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जा। तू अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी और प्राप्त वस्तुकी रक्षाकी

भी चिन्ता मत कर और केवल परमात्माके परायण हो जा अर्थात् एक परमात्मप्राप्तिका ही लक्ष्य रख ।।४५।।

ऐसा एक निश्चय कोई कर ले तो उसका क्या परिणाम होता है ?

जैसे बहुत बड़े सरोवरके प्राप्त होनेपर छोटे सरोवरका कोई महत्त्व नहीं रहता, कोई जरूरत नहीं रहती, ऐसे ही वेदों और शास्त्रोंके तात्पर्यको जाननेवाले तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषकी दृष्टिमें संसारका, भोगोंका कोई महत्त्व नहीं रहता ।।४६।।

मेरे लिये ऐसी स्थितिको प्राप्त करनेका कोई उपाय है ?

हाँ, कर्मयोग है। तेरा कर्तव्यकर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं अर्थात् तू फलकी इच्छा न रखकर अपने कर्तव्यका पालन कर। तू कर्मफलका हेतु भी मत बन अर्थात् जिनसे कर्म किया जाता है, उन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिमें भी ममता न रख।

तो फिर मैं कर्म करूँ ही क्यों ?

कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिये ।।४७।।

तो फिर कर्म करूँ कैसे ?

सिद्धि-असिद्धिमें सम होना 'योग' कहलाता है, इसलिये हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके योग-(समता-)में स्थित होकर कर्म कर ।।४८।।

अगर योग-(समता-) में स्थित होकर कर्म न करूँ, तो ?

इस समताके बिना सकाम कर्म अत्यन्त ही निकृष्ट हैं। अतः हे धनंजय! तू समबुद्धिका ही आश्रय ले; क्योंकि कर्मफलकी इच्छा करनेवाले कृपण हैं अर्थात् कर्मफल के गुलाम हैं ।।४९।।

कर्म-फलकी इच्छावाले कृपण हैं, तो फिर श्रेष्ठ कौन है ?

समबुद्धिसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ है। समबुद्धिसे युक्त मनुष्य इस जीवित अवस्थामें ही पाप-पुण्यसे रहित हो जाता है। इसलिये तू समतामें ही स्थित हो जा; क्योंकि कर्मोंमें समता ही कुशलता है ॥५०॥

कर्मोंमें समता रखनेसे क्या होगा भगवन् ?

समतासे युक्त मनीषी कर्मजन्य फलका त्याग करके और जन्मरूप बन्धनसे रहित होकर निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥५१॥

यह मैं कब समझूँ कि मैंने कर्मजन्य फलका त्याग कर दिया ?

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको तर जायगी, तब तेरेको सुने हुए और सुननेमें आनेवाले (भुक्त और अभुक्त) भोगोंसे वैराग्य हो जायगा ॥५२॥

वैराग्य होनेपर फिर समताकी प्राप्ति कब होगी ?

शास्त्रोंके अनेक सिद्धान्तोंसे, मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब संसारसे सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें अचल हो जायगी, तब तेरेको योग-(साध्यरूप समता-) की प्राप्ति हो जायगी ॥५३॥

अर्जुन बोले—समताको प्राप्त हुए स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं ?

भगवान् बोले—हे पार्थ! जब साधक मनमें रहनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धिवाला) कहलाता है ॥५४-५५॥

वह स्थितप्रज्ञ बोलता कैसे है ?

भैया! उसका बोलना साधारण क्रियारूपसे नहीं होता, प्रत्युत भावरूपसे होता है। वर्तमानमें व्यवहार करते हुए दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह मननशील मनुष्य स्थितप्रज्ञ कहलाता है। सब जगह आसक्तिरहित हुआ जो मनुष्य प्रारब्धके अनुसार अनुकूल परिस्थितिके आनेपर हर्षित नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर द्वेष नहीं करता, उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है अर्थात् पहले उसने 'मुझे परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है'— ऐसा जो निश्चय किया था, वह अब सिद्ध हो गया है ॥५६-५७॥

वह स्थितप्रज्ञ बैठता कैसे है भगवन् ?

जैसे कछुआ अपने चारों पैर, गरदन और पूँछ—इन छहों अंगोंको समेटकर बैठता है, ऐसे ही जिस समय वह कर्मयोगी सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंसे समेट लेता है, हटा लेता है, उस समय उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥५८॥

इन्द्रियोंको समेटनेकी वास्तविक पहचान क्या है ?

इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटानेवाले मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रसबुद्धि (सुख-भोग-बुद्धि) निवृत्त नहीं होती। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेसे इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यकी रसबुद्धि भी निवृत्त हो जाती है ॥५९॥

रसबुद्धि रहनेसे क्या हानि होती है ?

हे कुन्तीनन्दन! रसबुद्धि रहनेसे साधनपरायण विवेकी मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको जबर्दस्ती विषयोंकी तरफ खींच ले जाती हैं ॥६०॥

इस रसबुद्धिको दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये भगवन् ?

कर्मयोगी साधक सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण होकर बैठे अर्थात् मेरे भरोसे निश्चिन्त हो जाय। इस तरह जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥६१॥

आपके परायण न होनेसे क्या होगा ?

मेरे परायण न होनेसे विषयों-(भोगों-) का चिन्तन होगा।

विषयोंके चिन्तनसे क्या होगा ?

मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जायगी।

आसक्ति होनेसे क्या होगा ?

उन विषयों- (भोगों-) को प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जायगी।

कामना पैदा होनेसे क्या होगा ?

कामनाकी पूर्तिमें बाधा पड़नेपर क्रोध आ जायगा ॥६२॥

क्रोध आनेसे क्या होगा ?

क्रोधके आनेसे सम्मोह हो जायगा अर्थात् मूढ़ता छा जायगी।

मूढ़ता छा जानेसे क्या होगा ?

'मैं साधक हूँ तो मुझे ऐसा व्यवहार करना चाहिये, ऐसा बोलना चाहिये' आदि जो पहले विचार किया था, उसकी स्मृति नष्ट हो जायगी अर्थात् उसकी याद नहीं रहेगी।

स्मृति नष्ट होनेपर क्या होगा ?

बुद्धि (नया विचार करनेकी शक्ति) नष्ट हो जायगी अर्थात् इस समय मेरेको क्या करना चाहिये और क्या नहीं— यह विवेक-शक्ति दब जायगी।

बुद्धि नष्ट होनेसे क्या होगा ?

उस मनुष्यका पतन हो जायगा ॥६३॥

स्थितप्रज्ञके बैठनेकी बात तो आपने बता दी, अब यह बताइये कि वह चलता कैसे है ?

भैया! उसका चलना क्रियारूपसे नहीं, भावरूपसे होता है। वशीभूत अन्तःकरणवाला साधक राग-द्वेषसे रहित और अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है ॥६४॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होनेपर क्या होता है ?

उस प्रसन्नचित्तवाले मनुष्यके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और उसकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

बुद्धि स्थिर किसकी नहीं होती ?

जिसका मन और इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी व्यवसायात्मिका (एक निश्चयवाली) बुद्धि नहीं होती। व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे उसकी 'मुझे केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है'—ऐसी भावना, ऐसा विचार नहीं होता। ऐसी भावना न होनेसे अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन न होनेसे उसको शान्ति नहीं मिलती। फिर अशान्त मनुष्यको सुख भी कैसे मिल सकता है ! ॥६६॥

जो संसारी (भोगी) है, उसकी बुद्धि स्थिर होनेकी तो सम्भावना ही नहीं है; पर जो साधक है, उसकी बुद्धि स्थिर न होनेमें क्या कारण है ?

कारण यह है कि जैसे जलमें चलती हुई नावको वायु हर लेती है, ऐसे ही साधककी अपने-अपने विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे एक इन्द्रिय भी मनके साथ हो जाती है, उस इन्द्रियके साथ मिला हुआ वह अकेला मन ही उस साधककी बुद्धिको हर लेता है ॥६७॥

तो फिर बुद्धि स्थिर किसकी होती है ?

हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकारसे वशमें हैं अर्थात् जिसके मनसे भी विषयोंका चिन्तन नहीं होता, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६८॥

जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, ऐसे साधारण मनुष्यमें और जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, ऐसे संयमी मनुष्यमें क्या अन्तर है ?

साधारण मनुष्योंकी जो रात है अर्थात् जो परमात्मप्राप्तिके विषयमें बिलकुल सोये हुए हैं, उस रातमें संयमी मनुष्य जागता है अर्थात् परमात्मतत्त्वका अनुभव करता है और जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करनेमें बड़े सावधान, सजग रहते हैं, वह तो परमात्मतत्त्वको जाननेवाले मननशील मनुष्यकी दृष्टिमें रात है, अँधेरा है ॥६९॥

तो फिर उस संयमी मनुष्यके सामने भोग-पदार्थ आते ही नहीं होंगे ?

आते हैं। परन्तु जैसे अपनी मर्यादामें अटल रहनेवाले और चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण समुद्रमें सम्पूर्ण नदियोंका जल आकर मिल जाता है, पर वह समुद्रमें कोई विकार पैदा नहीं करता, ऐसे ही उस संयमी मनुष्यके सामने संसारके सभी भोग आते हैं, पर वे उसमें कोई

विकार पैदा नहीं करते। ऐसा मनुष्य ही परमशान्ति-(परमात्मतत्त्व-) को प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं ॥७०॥

भोगोंकी कामनावालोंको भी शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो ?

उनको तो त्यागसे ही शान्ति प्राप्त होगी। जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका तथा स्पृहाका त्याग करके अहंता-ममतासे रहित होकर विचरता है, उसको शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥७१॥

अहंता-ममतासे रहित होनेपर उसकी स्थिति कहाँ होती है ?

उसकी स्थिति ब्रह्ममें होती है। हे पार्थ! यही ब्राह्मी-स्थिति है। इसको प्राप्त होनेपर मनुष्य कभी मोहित नहीं होता। यदि मनुष्य इस ब्राह्मी-स्थितिमें अन्तकालमें भी स्थित हो जाय अर्थात् अन्तकालमें भी अहंता-ममतारहित हो जाय, तो वह निर्वाण (शान्त) ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥७२॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन बोले— हे जनार्दन! आपके मतमें जब (ज्ञान) बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो फिर हे केशव! आप मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? तथा आप कभी कहते हैं— कर्म करो और कभी कहते हैं—ज्ञानका आश्रय लो। आपके इन मिले हुए वचनोंसे मेरी बुद्धि मोहित-सी हो रही है। इसलिये एक निश्चित बात कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥१-२॥

भगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्यलोकमें दो प्रकारसे होनेवाली निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमें सांख्य योगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगसे एक ही समबुद्धिकी प्राप्ति होती है ॥३॥

उस समताकी प्राप्तिके लिये क्या कर्म करना जरूरी है?

हाँ, जरूरी है; क्योंकि मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है। तात्पर्य है कि उस समताकी प्राप्ति कर्मोंका आरम्भ किये बिना भी नहीं होती और कर्मोंके त्यागसे भी नहीं होती ॥४॥

कर्मोंके त्यागसे क्यों नहीं होती?

कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिजन्य गुण स्वभावके परवश हुए प्राणियोंसे कर्म कराते हैं, तो फिर प्राणी कर्मोंका त्याग कैसे कर सकता है! ॥५॥

अगर मनुष्य चुपचाप बैठा रहे, कुछ भी करे नहीं, तो क्या यह कर्मोंका त्याग नहीं हुआ ?

नहीं, जो मनुष्य चुपचाप बैठकर अर्थात् इन्द्रियोंको केवल बाहरसे रोककर मनसे विषयोंका चिन्तन करता रहता है, उसका यह चुपचाप बैठना कर्मोंका त्याग करना नहीं हुआ, प्रत्युत उस मूढ़बुद्धिवालेका यह चुपचाप बैठना मिथ्याचार है ॥६॥

आपने जो समबुद्धि बतायी उसकी प्राप्ति न तो कर्मोंके किये बिना होती है, न कर्मोंके त्यागसे होती है और न बाहरसे चुपचाप बैठकर मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे होती है, तो फिर उसकी प्राप्ति कैसे होती है ?

हे अर्जुन! जो मनुष्य मनसे इन्द्रियोंका नियमन करके आसक्तिरहित होकर इन्द्रियोंके द्वारा कर्मयोग-(निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यकर्मों-) का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है अर्थात् उसको समबुद्धिकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्य-कर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा उपर्युक्त विधिसे कर्तव्यकर्म करना श्रेष्ठ है। और तो क्या, बिना कर्म किये तेरे शरीरका निर्वाह भी नहीं होगा ॥७-८॥

कर्मोंको करनेसे बन्धन तो नहीं होगा भगवन् ?

नहीं, यज्ञ-(कर्तव्यकर्म-) को केवल अपने लिये करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तू आसक्तिरहित होकर यज्ञ-(कर्तव्यकर्म-) को केवल कर्तव्य-परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही कर ॥९॥

मैं कर्म करूँ ही क्यों ?

अरे भैया! सर्गके आरम्भमें पितामह ब्रह्माजीने भी



यज्ञ-(कर्तव्यकर्मों-) सहित मनुष्योंकी रचना करके उनसे यही कहा था कि तुमलोग इस कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ। यह यज्ञ तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो ॥१०॥

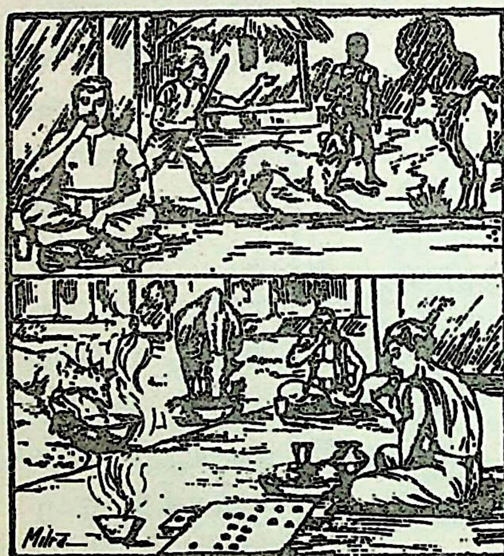
यह यज्ञ हम किस भावसे करें पितामह ?

इसके द्वारा तुमलोग देवताओंकी वृद्धि (उन्नति) करो और वे देवतालोग तुम्हारी वृद्धि करें। इस तरह एक दूसरेकी वृद्धि करनेसे अर्थात् अपने लिये कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही सब कर्म करनेसे तुमलोग परमश्रेय-(परमात्मा-)को प्राप्त हो जाओगे ॥११॥

पितामह! अगर हम यज्ञ न करें तो ?

तुम्हारे कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे; परन्तु अगर तुमलोग उस कर्तव्य-पालनकी सामग्रीसे देवताओंकी पुष्टि न करके स्वयं ही सुख-आराम भोगोगे, तो तुम चोर बन जाओगे ॥१२॥

इस दोषसे कैसे बचा जाय भगवन् ?



भैया! केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्तव्यकर्म करनेसे यज्ञ शेषके रूपमें समताका अनुभव होता है। उस समताका अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो केवल अपने सुख-आरामके लिये ही सब कर्म करते हैं, वे पापीलोग तो केवल पाप ही कमाते हैं ॥१३॥

भगवन्! अभी आपने कर्तव्यकर्मके विषयमें ब्रह्माजीकी आज्ञा सुनायी, पर कर्तव्यकर्मके विषयमें आपका क्या कहना है ?

इस विषयमें मेरा यही कहना है कि सृष्टि-चक्रके संचालनके लिये भी कर्तव्यकर्म करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे पैदा होते हैं और अन्न वर्षासे पैदा होता है। वर्षा यज्ञ-(कर्तव्यपालन-) से होती है और यज्ञ निष्कामभावसे किये गये कर्मों-से होता है। कर्तव्यकर्म करनेकी विधि वेद बताते हैं और वेद परमात्मासे प्रकट होते हैं। इसलिये सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ-(कर्तव्यकर्म-) में नित्य विद्यमान रहते हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही होती है। अतः सृष्टि-चक्रकी सुरक्षाके लिये अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना मनुष्योंके लिये बहुत जरूरी है ॥१४-१५॥

अगर कोई इस सृष्टि-चक्रकी सुरक्षाके लिये अपने कर्तव्यका पालन न करे, तो ?

हे पार्थ! जो मनुष्य इस सृष्टि-चक्रकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये कर्तव्यकर्म नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोग भोगनेवाला तथा पापमय जीवन बितानेवाला मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है अर्थात् वह मर जाय तो अच्छा है ॥१६॥

कोई आसक्तिरहित होकर केवल आपकी आज्ञाके अनुसार सृष्टि-चक्रकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही कर्तव्यकर्मका पालन करे, तो ?

वह अपने-आपमें ही रमण करनेवाला, अपने-आपमें ही तृप्त और अपने-आपमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी करना बाकी नहीं रहता; क्योंकि उस महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे ही कोई मतलब रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई मतलब रहता है तथा उसका किसी भी प्राणीके साथ कोई भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥१७-१८॥

क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ भगवन् ?

हाँ, बन सकता है। तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर अपने कर्तव्यका अच्छी तरह पालन कर; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ॥१९॥

पहले आसक्तिरहित होकर क्या किसीने कर्म किये हैं और क्या उनको परमात्माकी प्राप्ति भी हुई है ?

हाँ, राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष कर्तव्यकर्म करके ही परमात्माको प्राप्त हुए हैं। परमात्माको प्राप्त होनेपर भी उन्होंने लोकसंग्रह-(दुनियाको कुमार्गसे बचाकर सन्मार्गपर लाने-) के लिये कर्म किये हैं। इसलिये तू भी लोकसंग्रहको ध्यानमें रखते हुए अपने कर्तव्यकर्मका पालन कर ॥२०॥

वह लोकसंग्रह कैसे होता है ?

दो प्रकारसे होता है—अपनी कर्तव्यपरायणतासे और अपने वचनोंसे। श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह अपने वचनोंसे जो कुछ प्रमाणित करता है, दूसरे मनुष्य भी उसीका अनुवर्तन करते हैं॥ २१ ॥

जैसे आपने परमात्मप्राप्तिके विषयमें जनक आदिका उदाहरण दिया, ऐसे ही लोक-संग्रहके विषयमें भी क्या कोई उदाहरण है ?



हाँ, मेरा ही उदाहरण लो पार्थ! मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं है और प्राप्त करनेयोग्य कोई वस्तु अप्राप्त भी नहीं है, फिर भी मैं लोक-संग्रहके लिये कर्तव्यकर्म करता हूँ॥२२॥

आपके लिये कर्तव्यकर्म करनेकी क्या जरूरत है भगवन् ?

हाँ पार्थ, जरूरत है; क्योंकि अगर मैं निरालस्य होकर कर्तव्यकर्म न करूँ तो मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करेंगे अर्थात् वे भी कर्तव्यकर्म करना छोड़ देंगे॥२३॥

इससे क्या होगा भगवन् ?

अगर मैं कर्तव्यकर्म न करूँ, तो अपना-अपना कर्तव्यकर्म न करनेसे ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे और मैं सब तरहके संकर

दोषोंको पैदा करनेवाला तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँगा ॥२४॥

इस दृष्टिसे आपके लिये तो लोकसंग्रहके लिये कर्तव्यकर्म करना बहुत जरूरी है, पर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये भी कर्तव्यकर्म करना जरूरी है क्या ?

हाँ अर्जुन, जरूरी ही नहीं, बहुत जरूरी है! जैसे अज्ञानी मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर फलकी इच्छासे तत्परतापूर्वक कर्मोंको करते हैं, ऐसे ही आसक्तिरहित ज्ञानी महापुरुषको भी लोकसंग्रहके लिये तत्परतापूर्वक कर्म करने चाहिये। ज्ञानी महापुरुषको चाहिये कि वह कर्मोंमें आसक्त उन अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें किसी प्रकारका भ्रम पैदा न करके स्वयं भी बड़ी सावधानीसे कर्म करे तथा उनसे भी वैसे ही कर्म करवाये ॥२५-२६॥

अज्ञानी और ज्ञानी—इन दोनोंके कर्मोंके करनेमें क्या अन्तर होता है ?

सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है और हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागको * तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं'— ऐसा अनुभव करके उनमें आसक्त नहीं होता ॥२७-२८॥

जितनी जिम्मेवारी आपपर है, उतनी ही जिम्मेवारी क्या ज्ञानी महापुरुषपर भी होती है ?

---

* सत्त्व, रज और तम— इन तीनों गुणोंका कार्य होनेसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ आदि सब संसार 'गुण-विभाग' है और उसमें होनेवाली सब क्रियाएँ 'कर्म-विभाग' हैं।

नहीं, ज्ञानी महापुरुष अज्ञानियोंकी तरह कर्म न करे, तो कोई बात नहीं, पर वह किसी भी रीतिसे कम-से-कम प्रकृतिजन्य गुणोंसे मोहित और गुणों तथा कर्मोंमें आसक्त अज्ञानियोंको विचलित न करे ॥२९॥

पर मैं तो विचलित हो जाता हूँ भगवन्! क्या करूँ ?

तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण करके कामना, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध (कर्तव्यकर्म) कर ॥३०॥

सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा ?

जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक सदा मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥३१॥

परन्तु जो आपके मतके अनुसार नहीं चलते, उनका क्या होता है ?

जो मेरे इस मतमें दोषदृष्टि करके इसके अनुसार नहीं चलते, उन सांसारिक ज्ञानोंमें मोहित और पारमार्थिक ज्ञानसे रहित अविवेकी मनुष्योंको तुम नष्ट हुए ही समझो ॥३२॥

आपके मतके अनुसार न चलनेसे उनका नाश (पतन) क्यों होता है ?

ज्ञानी तो अपने राग-द्वेषरहित शुद्ध स्वभावके अनुसार क्रिया करता है। परन्तु ये मनुष्य अपने राग-द्वेषयुक्त दूषित स्वभावके अनुसार कर्म करते हैं, इसलिये शास्त्रमर्यादाके अनुसार कर्म करनेमें उनका वश नहीं चलता, जबर्दस्ती नहीं चलती। इस प्रकार अपने दूषित स्वभावके वशमें होनेके कारण उनका पतन हो जाता है ॥३३॥

इस पतनसे बचनेका क्या उपाय है भगवन् ?

प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष स्थित हैं, इसलिये मनुष्य राग-द्वेषके वशीभूत होकर कर्म न करें; क्योंकि ये दोनों ही मनुष्यके शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

तो फिर मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

अपने धर्म-(कर्तव्य-)का पालन करना चाहिये। गुणोंकी कमीवाला भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्मका पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय, तो वह (अपने धर्मका पालन) कल्याण करनेवाला है। परन्तु दूसरोंका धर्म कितना ही गुणवाला होनेपर भी भयको देनेवाला है ॥३५॥

अर्जुन बोले—जब अपने धर्मका पालन करना ही श्रेष्ठ है, तो फिर मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर अधर्मका, पापका आचरण करता है ? ॥३६॥

भगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाले काम-(कामना-)को ही तू पाप करानेवाला समझ। इस कामसे ही क्रोध पैदा होता है। यह काम कभी भी तृप्त न होनेवाला और महापापी है॥ ३७॥



यह महापापी काम क्या करता है ?

जैसे धुआँ अग्निको, मैल दर्पणको और जेर गर्भको ढक देता है, ऐसे ही यह काम (कामना) पाप न करनेकी इच्छाको दबाकर मनुष्यको पापमें लगाता है; और

हे कुन्तीनन्दन! यह काम अग्निकी तरह कभी तृप्त न होनेवाला और विवेकी साधकोंका नित्य वैरी है। इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढक जाता है ॥३८-३९॥

ऐसा वह काम रहता कहाँ है ?

वह काम इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीन स्थानोंमें रहता है और इनके द्वारा देहाभिमानी मनुष्यके ज्ञानको ढककर उसे मोहित करता है ॥४०॥

उस कामका नाश कैसे किया जाय ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! तू सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानको ढकनेवाले महापापी कामको अवश्य ही मार डाल ॥४१॥

आपने जो उपाय बताया, उसको काममें कैसे लायें भगवन् ?

शरीरसे इन्द्रियाँ पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म) हैं, इन्द्रियोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे काम पर है * । इस तरह कामको बुद्धिसे पर जानकर अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करके हे महाबाहो ! तू इस दुर्जय शत्रु कामको मार डाल ॥४२-४३॥

* काम अहं-(कर्ता-)में रहता है, इसीलिये कर्ताका पदार्थों आदिमें खिंचाव होता है। अहंमें एक तो प्रकृतिका अंश (जड-अंश) है और एक परमात्माका अंश (चेतन-अंश) है। प्रकृतिका अंश स्वाभाविक ही प्रकृतिकी तरफ और परमात्माका अंश स्वाभाविक ही परमात्माकी तरफ (सजातीयता होनेसे) खिंचता है। अतः अहंके जड-अंशमें काम रहता है और चेतन-अंशमें तत्त्व-जिज्ञासा, प्रेम-पिपासा आदि रहती है।

— ~ —

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

चौथा अध्याय

अभी आपने जिस कर्मयोगमें काम-(कामना-) के नाशके लिये प्रेरणा की है, उस कर्मयोगकी क्या परम्परा है ?

भगवान् बोले— इस अविनाशी योगको मैंने सबसे पहले सूर्यसे कहा था। फिर सूर्यने अपने पुत्र मनुसे और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे कहा। इस तरह हे परंतप! परम्परासे चलते आये इस योगको राजर्षियोंने जाना, परन्तु बहुत समय बीत जानेके कारण वह योग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है। तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसीलिये वही पुरातन योग आज मैंने तेरेसे कहा है, जो कि बड़े उत्तम रहस्यकी बात है ॥१—३॥



अर्जुन बोले—परन्तु भगवन्! जिस सूर्यको आपने उपदेश दिया था, वह तो बहुत पहले उत्पन्न हुआ है, जबकि आपका जन्म (अवतार) तो अभी हुआ है। अतः मैं यह कैसे जानूँ कि आपने ही सृष्टिके आरम्भमें सूर्यको उपदेश दिया था ? ॥४॥

भगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन! यह बात मेरे इसी जन्म-(अवतार-) की नहीं है। मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ अर्थात् किस-किस जन्ममें मैंने और तूने क्या-क्या किया, उन सब बातोंको मैं जानता हूँ, पर तू अपने जन्मों और कर्मोंको भी नहीं जानता ॥५॥

जैसे मेरा जन्म हुआ है, ऐसे ही आपका जन्म नहीं हुआ है क्या?

नहीं भैया, मैं अजन्मा, अविनाशी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ ॥६॥

आपके प्रकट होनेका अवसर कौन-सा है ?

हे भरतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ ॥७॥

आपका अवतार लेनेका प्रयोजन क्या है ?

साधुओं-(भक्तों-) की रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ ॥८॥

इस तरह बार-बार जन्म (अवतार) लेनेसे क्या आप बँधते नहीं ?

नहीं अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। अपना कुछ भी स्वार्थ न रखकर केवल दुनियांका हित करनेके लिये ही मैं प्रकट होता हूँ।

इसको जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीर छूटनेके बाद पुनर्जन्म न लेकर मुझे ही प्राप्त होता है ॥९॥

आपको ही प्राप्त होता है— इसमें कोई प्रमाण भी है ?

हाँ, जो मुझमें ही तल्लीन और मेरे ही आश्रित हो गये हैं, ऐसे बहुत-से मनुष्य ज्ञानसे अर्थात् मेरे जन्म और कर्मकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेसे पवित्र होकर तथा राग, भय और क्रोधसे रहित होकर मुझे प्राप्त हो चुके हैं ॥१०॥

वे किस भावसे आपके आश्रित (शरण) होते हैं ?

हे पार्थ ! जो मनुष्य संसारसे विमुख होकर जिस भावसे मेरे शरण हो जाते हैं, मैं भी उनके साथ उसी भावसे (वैसा ही) बर्ताव करता हूँ। मेरे इस बर्तावका संसारमात्रके मनुष्योंपर बड़ा असर पड़ता है, जिससे वे भी स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंका हित करनेमें तत्पर हो जाते हैं ॥११॥

आप अपने शरण होनेवालोंके इतने अनुकूल हो जाते हैं, फिर भी मनुष्य आपको छोड़कर देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ?

उनके भीतर संसारका महत्त्व होनेसे वे कर्मजन्य सिद्धिको चाहते हैं। इसलिये वे मेरेको छोड़कर देवताओंकी उपासना करते हैं; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्मजन्य सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

जैसे मनुष्य कर्मजन्य सिद्धिके उद्देश्यसे देवताओंकी उपासना करते हैं अर्थात् शुभकर्म करते हैं, ऐसे ही आप भी किसी फलके उद्देश्यसे किसी कार्यको करते होंगे ?



मैं जीवोंके गुणों और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णों-(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-) की रचना करता हूँ। परन्तु मैं यह सृष्टि-रचना आदिका कार्य कर्तृत्व और फलेच्छारहित होकर ही करता हूँ, इसलिये वे कर्म मेरेको बाँधते नहीं। इतना ही नहीं, इस प्रकार मेरेको तत्त्वसे जाननेवाले भी कर्मोंसे कभी बँधते नहीं * ॥१३-१४॥

इस प्रकार किसीने कर्म किये भी हैं क्या ?

'हाँ, पहले जो मुमुक्षु हुए हैं, उन्होंने भी इस प्रकार (कर्मोंके तत्त्वको) जानकर कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजोंके द्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको उन्हींकी तरह कर ॥१५॥

जिस कर्मको मुमुक्षुओंने किया है और जिस कर्मको करनेके लिये आप आज्ञा दे रहे हैं, वह कर्म क्या है ?

* जैसे भगवान् फलेच्छारहित होकर कर्म करते हैं, ऐसे ही हमें भी फलकी इच्छा छोड़कर कर्म करना है— इस प्रकार जानकर जो कर्म करता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है— इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। अब मैं वही कर्म-तत्त्व तुझे बताता हूँ, जिसको जानकर तू संसार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा। वह कर्म तीन प्रकारका है— कर्म, अकर्म और विकर्म। इन तीनोंके तत्त्वको जरूर जानना चाहिये; क्योंकि कर्मोंका तत्त्व बड़ा ही गहन (गहरा) है ॥१६-१७॥

कर्म और अकर्मके तत्त्वको जानना क्या है ?

कर्ममें अकर्म देखना और अकर्ममें कर्म देखना अर्थात् कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना— इस रीतिसे सम्पूर्ण कर्म करनेवाला ही योगी है, बुद्धिमान् है ॥१८॥

वह बुद्धिमानी क्या है ?

जिसके सम्पूर्ण कर्म संकल्प और कामनासे रहित होते हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानाग्निसे जल जाते हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं अर्थात् यही उसकी बुद्धिमानी है ॥१९॥

ऐसे पुरुषकी स्थिति क्या होती है ?

वह कर्म तथा कर्मफलकी आसक्तिसे और उनके आश्रयसे रहित होता है तथा सदा तृप्त रहता है। इसलिये वह सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥२०॥

अगर कोई साधक निवृत्ति-परायण हो, तो ?

शरीर और अन्तःकरणको वशमें करनेवाला, सब प्रकारके संग्रहका त्याग करनेवाला और संसारकी आशासे रहित साधक केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं ॥२१॥

अगर कोई साधक प्रवृत्ति-परायण हो, तो ?

वह भी जैसी परिस्थिति आती है, उसीमें सन्तुष्ट रहता है, ईर्ष्या और द्वन्द्वोंसे रहित होता है तथा सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता हुआ कर्म करके भी नहीं बँधता। इतना ही नहीं, जो आसक्तिरहित और स्वाधीन है तथा जिसका निश्चय केवल परमात्माको प्राप्त करनेका ही है, ऐसे केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले साधकके सम्पूर्ण कर्म विलीन (अकर्म) हो जाते हैं ॥२२-२३॥

वह यज्ञ कितने प्रकारका होता है भगवन् ?

१. जिसमें सम्पूर्ण करण, उपकरण, सामग्री, क्रिया, कर्ता आदि ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं, वह 'ब्रह्मयज्ञ' है।
२. जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया आदि मेरे अर्पण हो जाती है, वह 'भगवदर्पणरूप यज्ञ' है।
३. जिसमें साधक अपने-आपको ब्रह्ममें एक कर देता है, वह 'अभिन्नतारूप यज्ञ' है।
४. जिसमें साधक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संयम कर लेता है, उनको अपने-अपने विषयोंसे हटा लेता है, वह 'संयमरूप यज्ञ' है।
५. जिसमें साधक राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता है, वह 'विषय-हवनरूप यज्ञ' है।
६. प्राणों, इन्द्रियों और मनकी क्रियाओंको रोककर बुद्धिकी जागृति रहते हुए निर्विकल्प हो जाना 'समाधिरूप यज्ञ' है।
७. लोकोपकारके लिये अपना धन खर्च करना 'द्रव्ययज्ञ' है।
८. अपने धर्मका पालन करनेमें जो कठिनता आती है, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना 'तपोयज्ञ' है।

९. कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें सम रहना 'योगयज्ञ' है।

१०. सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा नाम-जप आदि करना 'स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ' है।

११. पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक* प्राणायाम करना 'प्राणायामरूप यज्ञ' है।

१२. नियमित आहार करते हुए प्राणोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक देना 'स्तम्भवृत्ति प्राणायामरूप यज्ञ' है।

ये सम्पूर्ण यज्ञ केवल कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही हैं— ऐसा जानकर इन यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले साधकके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है ॥२४—३०॥

पापोंका नाश होनेपर क्या होता है भगवन् ?



हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उन यज्ञ करनेवालोंको अमृत-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जो यज्ञ करता ही नहीं, उसके लिये यह मनुष्यलोक भी लाभ-दायक नहीं होता, फिर परलोक कैसे लाभदायक हो सकता है ? ॥३१॥

* श्वासको भीतर लेना पूरक, श्वासको भीतर रोकना कुम्भक और श्वासको बाहर निकालना रेचक कहलाता है।

ऐसे यज्ञोंका वर्णन और कहाँ हुआ है ?

इस प्रकारके और भी कई तरहके यज्ञोंका वर्णन वेदोंमें विस्तारसे हुआ है। उन सब यज्ञोंको तू कर्मजन्य (कर्मोंसे होनेवाले) जान। इस प्रकार जानकर यज्ञ करनेसे तू कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥३२॥

सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ यज्ञ कौन-सा है भगवन् ?

हे परंतप ! उन सब कर्मजन्य यज्ञोंसे 'ज्ञानयज्ञ' श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण कर्म और पदार्थ समाप्त हो जाते हैं ॥३३॥

वह ज्ञान कैसे प्राप्त करें ?

उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तू ज्ञानी तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास जा, उनके चरणोंमें दण्डवत्-प्रणाम कर, उनकी सेवा कर और उनसे आदरपूर्वक तत्त्वकी जिज्ञासाके विषयमें प्रश्न कर, तब वे ज्ञानी महापुरुष तुझे ज्ञानका उपदेश देंगे ॥३४॥

उनके दिये हुए ज्ञानसे क्या होगा ?

हे अर्जुन! उस ज्ञानके प्राप्त होनेपर तुझे फिर कभी मोह नहीं होगा। तथा उस ज्ञानसे तू सम्पूर्ण प्राणियोंको पहले अपनेमें और फिर मेरेमें देखेगा अर्थात् सब जगह एक परमात्मतत्त्वका ही अनुभव करेगा ॥३५॥

इस ज्ञानकी क्या और भी कोई महिमा है ?

हाँ, अगर तू सब पापियोंसे भी अत्यन्त पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापोंसे भलीभाँति तर जायगा ॥३६॥

जैसे नौकासे समुद्र तरनेपर समुद्र तो रहता ही है, ऐसे ही पापोंसे तरनेपर पाप तो रहते ही होंगे ?

नहीं अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों-(पापों-) को भस्म कर देती है। अतः इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र कोई नहीं है। उसी ज्ञानको कर्मयोगके द्वारा सिद्ध हुआ मनुष्य अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है ॥३७-३८॥

जो ज्ञान कर्मयोगसे सिद्ध हुए मनुष्यको अपने-आप प्राप्त हो जाता है, वह ज्ञान अन्य साधकको किस प्रकार प्राप्त होता है ?

इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले, साधनपरायण और श्रद्धावान् साधकको वह ज्ञान प्राप्त हो जाता है और ज्ञानको प्राप्त होकर वह बहुत जल्दी परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥३९॥

इस ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधा क्या है ?

जो खुद तो जानता नहीं और दूसरोंपर श्रद्धा करता नहीं, दूसरोंकी बात मानता नहीं तथा जिसके भीतरमें संशय पड़ा रहता है, ऐसे मनुष्यका पतन हो जाता है। ऐसे संशयवाले मनुष्यके लिये न यह लोक सुखदायी होता है और न परलोक ही ॥४०॥

संशयके नष्ट होनेपर क्या होता है ?

हे धनंजय ! जिसने समताके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और ज्ञान-(कर्मतत्त्वके ज्ञान-) के द्वारा सम्पूर्ण संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे स्वरूप-परायण मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते। अतः हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदयमें स्थित अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले संशयका ज्ञानरूप तलवारसे छेदन करके समतामें स्थित हो जा और युद्ध-(कर्तव्य-पालन-) के लिये खड़ा हो जा ॥४१-४२॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! कभी तो आप कर्मोंके त्यागकी अर्थात् सांख्ययोगकी प्रशंसा करते हैं और कभी कर्मयोगकी। अतः इन दोनों साधनोंमेंसे जो निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये ॥१॥

भगवान् बोले—सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दोनों ही श्रेष्ठ हैं। परन्तु इन दोनोंमें भी सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥२॥

कर्मयोग श्रेष्ठ क्यों है भगवन्?

हे महाबाहो! जो किसीसे भी राग और द्वेष नहीं करता, वह कर्मयोगी नित्य ही संन्यासी जाननेयोग्य है; क्योंकि द्वन्द्वोंसे रहित होनेसे वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥३॥

आपने कहा कि दोनों श्रेष्ठ हैं, तो क्या दोनोंकी फलप्राप्तिमें कोई भेद नहीं है?

बेसमझलोग ही सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, पण्डित (बुद्धिमान्) लोग नहीं; क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसी एकमें भी स्थिति होनेपर साधक दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है अर्थात् जो फल सांख्ययोगीको प्राप्त होता है, वही फल कर्मयोगीको भी प्राप्त होता है। इसलिये जो सांख्ययोग और कर्मयोगको फलमें एक देखता है, वही ठीक देखता है ॥४-५॥

जब दोनोंका फल एक ही होता है, तो फिर कर्मयोग श्रेष्ठ कैसे है ?

हे महाबाहो ! कर्मयोगके बिना अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें सम हुए बिना सांख्ययोगका सिद्ध होना (समरूप स्वरूपमें स्थित होना) कठिन है। परन्तु मननशील कर्मयोगी (सिद्ध-असिद्धिमें सम होकर) शीघ्र ही समरूप ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥६॥

वह कर्मयोगसे ब्रह्मको कैसे प्राप्त कर लेता है ?

इन्द्रियोंको जीतनेवाला, निर्मल अन्तःकरणवाला, शरीरको वशमें करनेवाला तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने-आपको स्थित देखनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥७॥

सांख्ययोगी कर्मोंसे कैसे निर्लिप्त रहता है ?

सत्-असत्के तत्त्वको जानकर सत्में स्थित रहनेवाला सांख्ययोगी देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, जाता, सोता, श्वास लेता, बोलता, मल-मूत्रका त्याग करता, ग्रहण करता, आँखोंको खोलता और मीचता हुआ भी 'इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं'—ऐसा समझता है और 'मैं (स्वयम्) कुछ भी नहीं करता हूँ'— ऐसा अनुभव करके कर्मोंसे निर्लिप्त रहता है ॥८-९॥

कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनों ही कर्मोंसे निर्लिप्त रहते हैं। ऐसे निर्लिप्त रहनेका और भी कोई उपाय है क्या ?

हाँ, भक्तियोग है। भक्तियोगी आसक्तिका त्याग करके तथा सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्में अर्पण करके कर्म करता है। अतः वह भी जलमें कमलके पत्तेकी तरह पापोंसे, कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥१०॥

भगवन् ! भक्तियोगी तो आपमें समर्पणके उद्देश्यसे कर्म करता है। अतः वह लिप्त नहीं होता; परंतु कर्मयोगी किस उद्देश्यसे कर्म करता हुआ लिप्त नहीं होता ?

कर्मयोगी इन्द्रियाँ, शरीर, मन, बुद्धिके साथ ममता न करके और फलासक्तिका त्याग करके केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करता है। अतः कर्मयोगी कर्मफलकी इच्छाका त्याग करके सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो योगी नहीं है, वह कामनाके कारण कर्मफलमें आसक्त होकर बँध जाता है ॥११-१२॥

सांख्ययोगीके द्वारा कर्म किस प्रकार होते हैं भगवन् ?

शरीर, इन्द्रियाँ और मनको वशमें किया हुआ सांख्ययोगी मनसे सम्पूर्ण कर्मोंको नौ द्वारोंवाले शरीरमें छोड़कर न करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥१३॥

सांख्ययोगी तो न कर्म करता है और न कर्म करवाता है, पर परमात्मा तो करवाते होंगे ?

परमात्मा न तो किसी मनुष्यके कर्तापनकी रचना करते हैं, न किसीसे कर्म करवाते हैं और न कर्मफलके साथ किसीका सम्बन्ध ही जोड़ते हैं। परन्तु मनुष्य अपने-अपने स्वभाव-(आदत-) के अनुसार ही कर्म करते हैं और अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेते हैं। फिर कर्मफलके साथ सम्बन्ध अपने-आप हो जाता है ॥१४॥

वे परमात्मा किसीके कर्तापन आदिकी रचना नहीं करते, पर प्राणियोंके कर्मफलको तो ग्रहण करते ही होंगे ?

सर्वव्यापी परमात्मा किसीके भी पाप और पुण्य-कर्मको ग्रहण नहीं

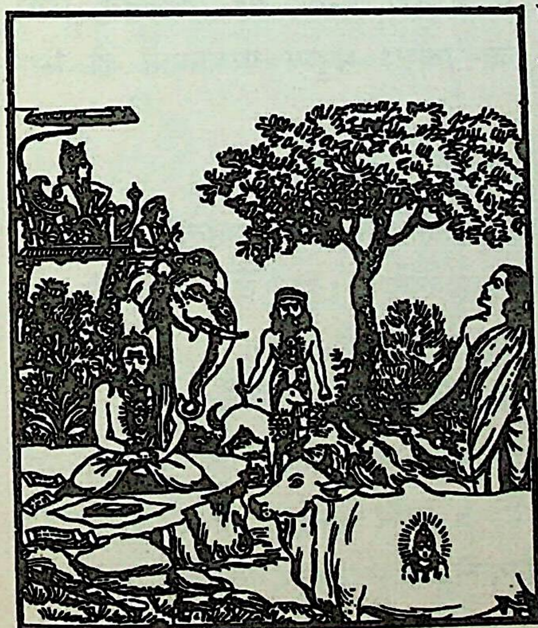
करते; किन्तु अज्ञानके द्वारा स्वरूपका ज्ञान ढका हुआ होनेसे वे जीव मोहित हो जाते हैं अर्थात् अपनेको कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मान लेते हैं, जिससे वे जन्मते-मरते रहते हैं ॥१५॥

तो क्या सभी जीव इसी तरह अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर मोहित होते रहते हैं ?

नहीं, जिन्होंने ज्ञान-(विवेक-) के द्वारा अपने अज्ञानका नाश कर दिया है, उनका वह सूर्यकी तरह ज्ञान उनको कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित करके परमात्माको प्रकाशित कर देता है अर्थात् उनको परमात्माका अनुभव करा देता है ॥१६॥

उस परमात्मतत्त्वका अनुभव और किसको होता है ?

जिनकी बुद्धि और मन तदाकार हो रहे हैं, जिनकी स्थिति परमात्मतत्त्वमें है, ऐसे परमात्मपरायण साधक ज्ञानके द्वारा पाप-पुण्यसे रहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उनका फिर पुनर्जन्म नहीं होता ॥१७॥



जो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, उन महापुरुषोंका ज्ञान व्यवहारकालमें कैसा रहता है ?

वे तत्त्वज्ञ महापुरुष विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी और कुत्तेमें भी एक समरूप परमात्माको ही देखते हैं, न कि खान-पान आदि व्यवहारसे उनके साथ एकता करते हैं ॥१८॥

समदर्शी होनेसे क्या होता है ?

जिनका मन सर्वथा साम्यावस्थामें अर्थात् परमात्मतत्त्वमें स्थित हो गया है, उन्होंने यहीं (जीते-जी) संसारको जीत लिया है अर्थात् वे संसारसे ऊँचे उठ गये हैं। कारण कि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे समरूप ब्रह्ममें ही स्थित रहते हैं ॥१९॥

ऐसी साम्यावस्थामें स्थित होनेका उपाय क्या है ?

व्यवहारमें प्रिय-अप्रिय अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर भी जो हर्ष और शोक नहीं करता, वह मोहरहित, स्थिर-बुद्धिवाला और ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य परमात्मामें ही स्थित रहता है ॥ २०

यह स्थिति किस क्रमसे प्राप्त होती है भगवन् ?

जो बाह्य पदार्थोंमें आसक्ति नहीं करता, वह पहले अपने-आपमें स्थित सात्त्विक सुखको प्राप्त कर लेता है। फिर वह परमात्माके साथ एक होकर अक्षय सुखका अनुभव करता है ॥२१॥

बाह्य पदार्थोंकी आसक्तिसे कैसे बचें ?

हे कुन्तीनन्दन ! इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले जितने भी भोग (सुख) हैं, वे सभी दुःखोंके ही कारण हैं और आदि-अन्तवाले (आने-जानेवाले) हैं। इसलिये विवेकी मनुष्य उनमें रमण नहीं करता ॥२२॥

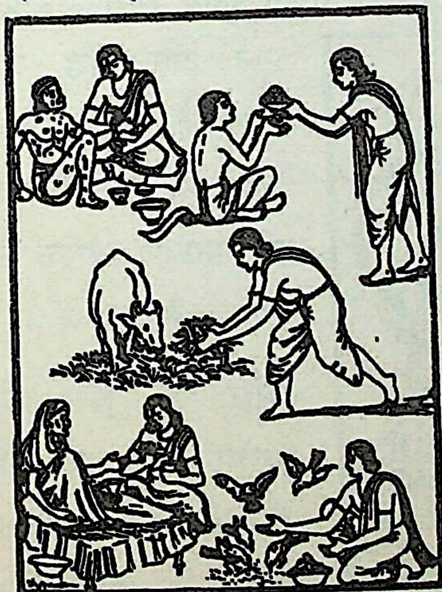
उन भोगोंमें रमण न करनेवाले मनुष्यकी क्या विशेषता है ?

जो मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है अर्थात् काम-क्रोधके वेगको उत्पन्न ही नहीं होने देता, वही सुखी है, वही योगी है और वही नर अर्थात् बहादुर है ॥२३॥

ऐसा होनेपर क्या होता है ?

काम-क्रोधका वेग उत्पन्न न होनेसे उसको परमात्मतत्त्वका सुख मिलता है, उसका परमात्मतत्त्वमें ही रमण होता है और उसका ज्ञान सदा अलुप्त रहता है। ऐसा वह ब्रह्मस्वरूप हुआ साधक शान्त ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

उस शान्त ब्रह्मको और कौन प्राप्त होते हैं ?



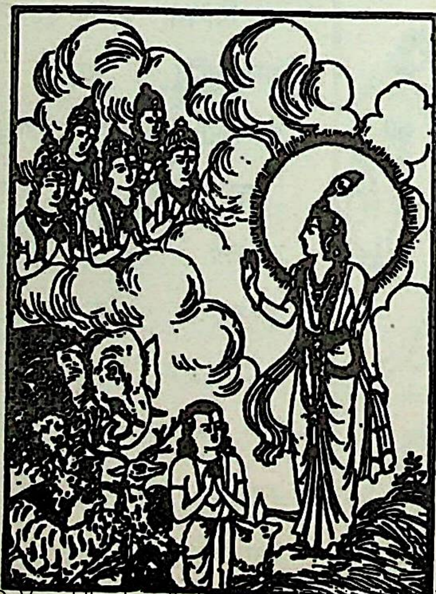
जिनके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि वशमें हैं, जिनकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रति है, जिनके मनकी सब दुविधाएँ (संशय) मिट गयी हैं और जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ॥२५॥

निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होनेवालोंके क्या लक्षण होते हैं ?

वे काम-क्रोधसे सर्वथा रहित होते हैं, उनका मन वशमें होता है, वे स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए होते हैं, ऐसे सांख्ययोगियोंको जीते-जी और मरनेके बाद निर्वाण ब्रह्म ही प्राप्त होता है ॥२६॥

यह निर्वाण ब्रह्म किसी दूसरे साधनसे भी प्राप्त किया जा सकता है क्या ?

हाँ, ध्यानयोगसे प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य विषयोंको बाहर ही छोड़कर अर्थात् सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके, नेत्रोंकी दृष्टिको भौंहोंके बीचमें स्थित करके और नासिकामें विचरनेवाले प्राण-अपानको अर्थात् रेचक-पूरकको समान करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं, ऐसा वह इच्छा, भय और क्रोधसे रहित मोक्षपरायण साधक सदा मुक्त ही है ॥२७-२८॥



और भी दूसरा कोई सुगम साधन है, जिससे सब सुगमता-पूर्वक मुक्त हो जायँ ?

हाँ, भक्तियोग है। जो मुझे सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणियोंका परम सुहृद् (स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी) तथा सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता जान लेता है, दृढ़तासे मान लेता है अर्थात् अपनेको कभी भोक्ता नहीं मानता, उसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है॥ २९॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

छठा अध्याय

भगवान् बोले—मैंने कर्मयोगकी बहुत-सी बातें बता दीं, अब मैं कर्मयोगका सार बताता हूँ। जो मनुष्य कर्मफलका अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका आश्रय न लेकर कर्तव्यकर्म करता है, वही संन्यासी है और वही योगी है। केवल अग्नि और क्रियाका त्याग करनेवाला संन्यासी और योगी नहीं है। इसलिये हे अर्जुन! लोग जिसको संन्यास (सांख्ययोग) कहते हैं, उसीको तू योग (कर्मयोग) समझ ॥१॥

संन्यासी और योगीमें महिमा किस बातकी है ?

संकल्पोंके त्यागकी; क्योंकि संकल्पोंका त्याग किये बिना अर्थात् अपने मनकी बात छोड़े बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता ॥२॥

योगी होनेमें मुख्य हेतु क्या है ?

जो योग- (समता-) में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये निष्कामभावसे कर्तव्यकर्म करना (योगारूढ़ होनेमें) कारण है और उसी योगारूढ़ मनुष्यकी शान्ति परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है अर्थात् संसारके त्यागसे मिलनेवाली शान्तिका उपभोग न करना परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है ॥३॥

उस योगारूढ़ मनुष्यके लक्षण क्या हैं ?

जिसकी न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्ति है तथा न अपना कोई संकल्प ही है, वह मनुष्य योगारूढ़ है ॥४॥

मनुष्यको योगारूढ़ होनेके लिये क्या करना चाहिये ?

स्वयंको आप ही अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ॥५॥

स्वयं अपना मित्र और अपना शत्रु कैसे है ?

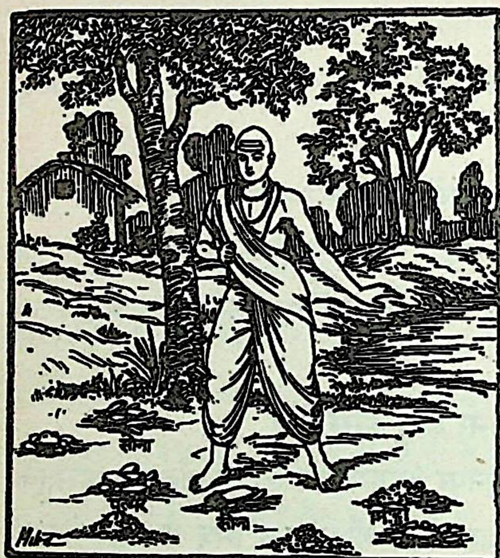
जिसने अपने-आपसे अपनेपर विजय कर ली अर्थात् जो असत्के साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह आप ही अपना मित्र है और जिसने अपनेपर विजय नहीं की अर्थात् जो असत्के साथ अपना सम्बन्ध मानता है, वह आप ही अपना शत्रु है ॥६॥

आप ही अपना मित्र होनेसे क्या होगा ?

जिसने अपने-आपको जीत लिया है, वह प्रारब्धके अनुसार आनेवाली अनुकूलता-प्रतिकूलतामें, वर्तमानमें किये जानेवाले कर्मोंकी सफलता-विफलतामें तथा दूसरोंके द्वारा किये गये मान-अपमानमें निर्विकार रहता है। अतः उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ॥७॥

परमात्माको प्राप्त हुए मनुष्यके क्या लक्षण हैं भगवन् ?

उसका अन्तःकरण सदा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त रहता है; उसका सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर अधिकार रहता है; वह सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार रहता है; मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें उसकी समबुद्धि रहती है। केवल पदार्थोंमें ही नहीं, सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य,



बन्धु, साधु और पापी व्यक्तियोंमें भी उसकी समबुद्धि रहती है। ऐसा समबुद्धिवाला मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है ॥८-९॥

वह समबुद्धि केवल कर्मयोगसे ही होती है या किसी दूसरे साधनसे भी होती है ?

वह समबुद्धि ध्यानयोगसे भी होती है, इसलिये मैं उस ध्यानयोगकी विधि बताता हूँ। ध्यानयोगी भोगबुद्धिसे संग्रहका त्याग करके, कामनारहित होकर, अन्तःकरण तथा शरीरको वशमें रखकर तथा एकान्तमें अकेला रहकर अपने मनको निरन्तर परमात्मामें लगाये ॥१०॥

मनको परमात्मामें लगानेके लिये अर्थात् ध्यान करनेके लिये उपयोगी बातें क्या हैं ?

शुद्ध, पवित्र स्थानपर ध्यानयोगी क्रमशः कुश, मृगछाला और पवित्र वस्त्र बिछाये। वह आसन न अत्यन्त ऊँचा हो और न अत्यन्त नीचा हो तथा स्थिर हो अर्थात् हिलने-डुलनेवाला न हो ॥११॥

ऐसा आसन बिछाकर क्या करे ?

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये

ध्यानयोगका अभ्यास करे ॥१२॥

उस आसनपर किस प्रकार बैठना चाहिये ?

शरीर, गरदन और मस्तकको एक सूत- (सीध-) में अचल करके तथा इधर-उधर न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखते हुए स्थिर होकर बैठे ॥१३॥

ऐसे आसनसे भी किस भावसे बैठना चाहिये ?

जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित है, जो भय-रहित है और जो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता है, ऐसा सावधान योगी मनको संसारसे हटाकर मेरेमें लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे ॥१४॥

इसका फल क्या होगा ?

इस प्रकार अपने मनको निरन्तर मेरेमें लगाते हुए वशमें किये हुए मनवाले योगीको मेरेमें रहनेवाली निर्वाण परमा शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है ॥१५॥

इस प्रकारसे ध्यान करनेवाले तो कई होते हैं, पर उन सबका ध्यानयोग सिद्ध क्यों नहीं होता भगवन् ?

हे अर्जुन ! अधिक खानेवालेका और बिलकुल न खानेवालेका, तथा अधिक सोनेवालेका और बिलकुल न सोनेवालेका यह योग सिद्ध नहीं होता ॥१६॥

तो फिर यह योग किसका सिद्ध होता है ?

जिसका आहार (भोजन) और विहार (घूमना-फिरना) यथोचित है, जिसकी कर्मोंमें चेष्टा यथोचित है और जिसका सोना-जागना भी यथोचित है, उसीका यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग सिद्ध होता है ॥१७॥

दुःखोंका नाश करनेवाला यह योग कब सिद्ध होता है ?

जब अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे विमुख हो जाता है अर्थात् अपने लिये किसी भी पदार्थकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं समझता, तब वह योगी कहलाता है अर्थात् उसका योग सिद्ध हो जाता है ॥१८॥

योगीके उस चित्तकी क्या अवस्था होती है ?

जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानपर रखे हुए दीपककी लौ थोड़ी-सी भी हिलती-डुलती नहीं, ऐसी ही अवस्था ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाले योगीके स्थिर चित्तकी हो जाती है ॥१९॥

चित्तकी ऐसी अवस्था होनेपर क्या होता है ?

योगके अभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त जब समाधिके सुखसे भी उपराम हो जाता है, तब योगी अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है ॥२०॥

अपने-आपमें सन्तुष्ट होनेपर क्या होता है ?

योगीको सीमारहित, इन्द्रियोंसे अतीत और बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्य सुखका अनुभव होता है। ऐसे वास्तविक सुखमें स्थित होनेपर वह ध्यानयोगी फिर कभी अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता ॥२१॥

वह किस कारणसे विचलित नहीं होता ?

वह जिस लाभ-(सुख-) को प्राप्त करता है, उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और उसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह जिस स्थितिमें स्थित है, उसमें सुखकी तो कमी रहती नहीं और दुःख

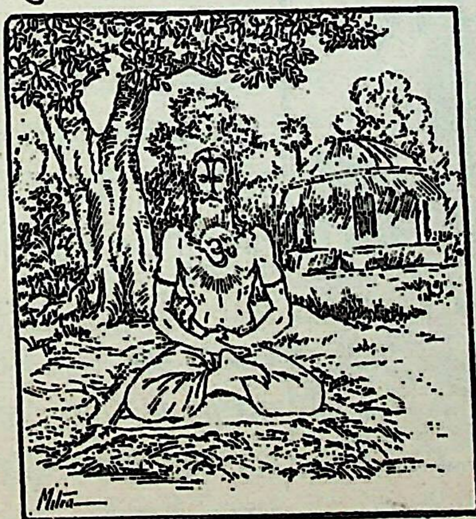
वहाँ पहुँचता नहीं ॥२२॥

ऐसे विलक्षण सुखको प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये ?

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है अर्थात् जिसमें संसारके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये। ऐसे योगको न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक प्राप्त करना चाहिये ॥२३॥

अपने स्वरूपके ध्यानसे जिस योग-(साध्यरूप समता-) की प्राप्ति होती है, उसकी प्राप्तिका और भी कोई उपाय है ?

हाँ, निर्गुण-निराकारका ध्यान है। संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे इन्द्रिय-समूहको सभी ओरसे हटाकर धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे संसारसे उपराम हो जाय; और सब जगह परिपूर्ण परमात्मामें मन-बुद्धिको स्थिर करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे ॥२४-२५॥



अगर चिन्तन हो जाय, तो ?

अभ्यास करे अर्थात् यह अस्थिर और चंचल मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर इसको एक परमात्मामें ही लगाये ॥२६॥

ऐसा करनेसे क्या होगा?

रजोगुणी वृत्तियोंसे रहित शान्त मनवाले, पापरहित और ब्रह्मस्वरूप योगीको उत्तम (सात्त्विक) सुखकी प्राप्ति होगी ॥२७॥

उसके बाद क्या होगा ?

अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाते हुए उस पापरहित योगीको सुखपूर्वक ब्रह्मस्वरूप अत्यन्त सुखकी प्राप्ति हो जायगी ॥२८॥

यहाँतक आपने सगुण-साकारका, अपने स्वरूपका और निर्गुण-निराकारका ध्यान करनेवालोंका वर्णन कर दिया, पर वे संसारको किस दृष्टिसे देखते हैं, इसका वर्णन नहीं किया। अब भगवन्, यह बताइये कि अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाला इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है ?



ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला वह योगी अपने-आपको (स्वरूपको) सम्पूर्ण प्राणियोंमें देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने-आपमें (स्वरूपमें) देखता है, इसलिये वह समदर्शी होता है ॥२९॥

जो आपके सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान करता है, वह इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है ?

वह सबमें मेरेको देखता है और सबको मेरेमें देखता है, इसलिये उसके सामने मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे सामने अदृश्य नहीं होता ॥३०॥

आप और वह योगी— दोनों एक-दूसरेके लिये अदृश्य क्यों नहीं होते ?

वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरे साथ एक होकर मेरा भजन करता है, इसलिये वह सबके साथ यथोचित बर्ताव करता हुआ भी नित्य-निरन्तर मेरेमें ही स्थित रहता है। फिर हम दोनों एक-दूसरेके लिये अदृश्य कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते ॥३१॥

जो आपके निर्गुण-निराकार स्वरूपका ध्यान करता है, वह इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है ?

जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरके अंगोंमें तथा उनके सुख-दुःखमें अपनेको समान देखता है, ऐसे ही वह योगी अपने शरीरकी उपमासे सम्पूर्ण प्राणियोंमें तथा उनके सुख-दुःखमें अपनेको समान देखता है। इसलिये वह योगी सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥३२॥

अर्जुन बोले—अभीतक आपने समताकी प्राप्तिके लिये जिस ध्यानयोगका वर्णन किया, हे मधुसूदन! मनकी चंचलताके कारण उस ध्यानयोगमें स्थिर स्थित रहना मुझे बड़ा कठिन दिखायी देता है; क्योंकि हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल, प्रमथनशील, बलवान् और जिद्दी है। उसका निग्रह करना मैं वायुका निग्रह करनेकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ ॥ ३३-३४ ॥

भगवान् बोले—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। महाबाहो, वास्तवमें यह मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना बड़ा कठिन है। परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्यसे इसका निग्रह किया जाता है। इसलिये जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसके द्वारा

ध्यानयोग सिद्ध हो सकता है—ऐसा मेरा मत है ॥३५-३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जिसकी साधनमें श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, ऐसे साधककी अन्तकालमें साधनमें स्थिति न रहे, तो वह योगसिद्धिको प्राप्त न करके किस गतिमें जाता है? संसारके आश्रयसे रहित और परमात्मप्राप्तिके मार्गसे विचलित उभयभ्रष्ट साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? हे कृष्ण ! यह मेरा सन्देह है। मेरे इस सन्देहको आप ही सर्वथा मिटा सकते हैं; क्योंकि इस सन्देहको आपके सिवा दूसरा कोई मिटा ही नहीं सकता ॥३७—३९॥

भगवान् बोले—पार्थ ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही पतन होता है; क्योंकि हे प्यारे! कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी साधक दुर्गतिमें नहीं जाता ॥४०॥

वह दुर्गतिमें नहीं जाता, तो फिर कहाँ जाता है ?

जिस साधकके भीतर सांसारिक सुखकी कुछ इच्छा रह गयी है, ऐसा योगभ्रष्ट साधक पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकों-(स्वर्ग आदि ऊँचे लोकों-) में जाता है और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर मृत्युलोकमें शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। परन्तु जिस साधकके भीतर सांसारिक सुखकी इच्छा नहीं है और अन्त समयमें किसी विशेष कारणसे योगभ्रष्ट हो जाता है, वह स्वर्ग आदि लोकोंमें न जाकर सीधे ही तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेता है। इस प्रकारका जन्म इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥४१-४२॥

तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर क्या होता है ?

हे कुरुनन्दन! वहाँपर उसको पूर्वजन्मकृत साधन-सामग्री अनायास

ही प्राप्त हो जाती है। उससे वह साधनकी सिद्धिके लिये फिर तत्परतासे यत्न करता है ।।४३।।



आपने तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले-की बात तो बता दी, अब यह बताइये कि शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालेका क्या होता है ?

वह योगभ्रष्ट भोगोंके परवश होते हुए भी पूर्वजन्ममें किये हुए अभ्यास- (साधन-)के कारण परमात्माकी तरफ खिंच जाता है।

पूर्वाभ्यासमें ऐसी कौन-सी शक्ति है, जिससे वह साधनमें जबर्दस्ती खिंच जाता है भगवन् ?

भैया! जब योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है, फिर जो योगभ्रष्ट है, योगमें लगा हुआ है, उसका तो कहना ही क्या है! ।।४४।।

परमात्माकी तरफ खिंच जानेपर क्या होता है ?

वह बड़ी तेजीसे साधनमें लग जाता है और सम्पूर्ण पापोंसे रहित होकर वह अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ (साधक) परमगति परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।।४५।।

जो योगी परमगतिको प्राप्त हो जाता है, उसकी क्या महिमा है ?

वह योगी सकामभाववाले तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है— ऐसा मेरा मत है। इसलिये हे अर्जुन! तू भी योगी हो जा ॥४६॥

योगियोंमें भी श्रेष्ठ कौन है ?

जो मेरेमें तल्लीन हुए अन्तःकरणसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरा भजन करता है, वह मेरा भक्त सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ है ॥४७॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सातवाँ अध्याय

जिसको आप सर्वश्रेष्ठ योगी मानते हैं, वैसा मैं भी बन सकता हूँ क्या ?

जरूर बन सकता है।

कैसे ?

भगवान् बोले— हे पार्थ! तू मेरेमें ही आसक्त मनवाला और मेरा ही आश्रय लेकर मेरा भजन करते हुए निःसन्देह मेरे समग्ररूपको जान जायगा। तू जिस प्रकार मेरे समग्ररूपको जानेगा, वह मेरेसे सुन। उस समग्ररूपको जाननेके लिये मैं तुझे विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्णतासे कहूँगा, जिसको जानकर फिर तेरे लिये इस मनुष्यलोकमें कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा ॥१-२॥

जब ऐसी बात है, तो फिर सब मनुष्य आपके समग्ररूपको क्यों नहीं जान लेते ?

इधर स्वतः प्रवृत्ति बहुत कम मनुष्योंकी है। हजारोंमेंसे कोई एक मनुष्य अपने कल्याणके लिये यत्न करता है। उन यत्न करनेवाले सिद्धों-(साधकों-) में भी कोई एक ही मेरे समग्ररूपको तत्त्वसे जानता है ॥ ३ ॥

आपका वह समग्ररूप क्या है ?

हे महाबाहो! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार— इन आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी 'अपरा' (जड) प्रकृति

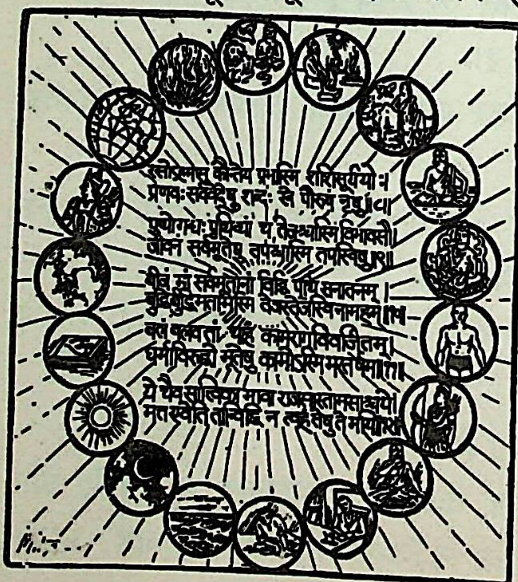
है। इससे सर्वथा भिन्न मेरी जीवरूपा 'परा' (चेतन) प्रकृति है, जिसने (अहंता-ममता करके) इस संसारको धारण कर रखा है। इन अपरा और परा— दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं।

इनका भी मूल कारण कौन है भगवन् ?

मैं ही सम्पूर्ण संसारका मूल कारण हूँ; क्योंकि संसार मेरेसे ही उत्पन्न होता है और मेरेमें ही लीन होता है। हे धनंजय! मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है। जैसे सूतकी बनायी हुई मणियाँ सूतके धागेमें ही पिरोयी जायँ तो उस मालामें सब सूत-ही-सूत है, ऐसे ही सम्पूर्ण संसारमें मैं-ही-मैं हूँ ॥४—७॥

पर मैं इस बातको कैसे समझूँ भगवन् ?

हे कुन्तीनन्दन! जलमें रस मैं हूँ, सूर्य और चन्द्रमामें प्रभा (प्रकाश) मैं हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव (ओंकार) मैं हूँ, आकाशमें



शब्द मैं हूँ, मनुष्योंमें पुरुषार्थ मैं हूँ, पृथ्वीमें पवित्र गन्ध मैं हूँ, अग्निमें तेज मैं हूँ, सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवनी-शक्ति मैं हूँ और तपस्वियोंका तप मैं हूँ। हे पार्थ! सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि बीज मुझे ही जान। बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वी पुरुषोंका तेज (प्रभाव) मैं हूँ। हे

भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! बलवानोंमें कामना और आसक्तिसे रहित (सात्त्विक) बल मैं हूँ। मनुष्योंमें धर्मसे युक्त काम मैं हूँ। और तो क्या कहूँ, जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं— ऐसा समझ; परन्तु मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे सर्वथा अतीत, निर्लिप्त हूँ ॥८—१२॥

यदि ऐसी बात है, तो सब लोग आपको ऐसा क्यों नहीं जानते ?

वे सत्त्व, रज और तम— इन तीनों गुणोंसे मोहित रहते हैं अर्थात् संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं। इसलिये वे इन तीनों गुणोंसे अतीत और अविनाशी मेरेको नहीं जानते ॥१३॥

तो फिर आपको कौन जानते हैं ?

मेरी इस तीनों गुणोंवाली मायाको पार करना बड़ा ही कठिन है। जो इस मायासे विमुख होकर केवल मेरे ही शरण हो जाते हैं, वे मेरी कृपासे इस मायाको तर जाते हैं अर्थात् मेरेको जान जाते हैं ॥१४॥

जब ऐसी ही बात है, तो फिर सब आपके शरण क्यों नहीं होते ?

जो आसुर भावका आश्रय लेनेवाले हैं और मायासे जिनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ है, ऐसे मनुष्योंमें महान् नीच तथा पाप-कर्म करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरे शरण नहीं होते ॥१५॥

तो फिर आपके शरण कौन होते हैं भगवन् ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी,

(प्रेमी)— ये चार प्रकारके सुकृती भक्त मेरा भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं ॥१६॥

इन चारोंमें श्रेष्ठ कौन है ?

इन चारों भक्तोंमें अनन्य भक्तिवाला ज्ञानी (प्रेमी) भक्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वह निरन्तर मेरेमें लगा रहता है। इसलिये मैं उसको और वह मेरेको अत्यन्त प्यारा है ॥१७॥

क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं ?

वे सभी उदार हैं, श्रेष्ठ हैं।

फिर प्रेमी भक्तमें क्या विशेषता हुई ?

प्रेमी भक्त तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है— ऐसा मेरा मत है; क्योंकि जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसे मुझमें ही वह लगा हुआ है और मुझमें ही दृढ़ आस्थावाला है। तात्पर्य है कि अर्थार्थीमें धनकी भी इच्छा है, आर्तमें दुःख दूर करनेकी भी इच्छा है और जिज्ञासुमें तत्त्वको जाननेकी भी इच्छा है; परन्तु ज्ञानी-(प्रेमी-) में तो किसी भी तरहकी कोई इच्छा नहीं है ॥१८॥

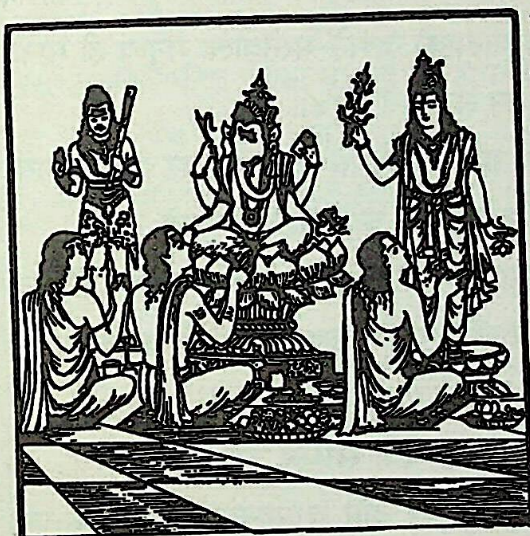
ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तकी इतनी महिमा क्यों है ?

बहुत जन्मोंके अन्तिम इस मनुष्य-जन्ममें मेरे शरण होकर 'सब कुछ वासुदेव (परमात्मा) ही है'—ऐसा ज्ञानवान् महात्मा संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥१९॥

ऐसा प्रेमी भक्त न होनेमें क्या कारण है ?

तरह-तरहकी कामनाओंके कारण जिनका 'सब कुछ वासुदेव ही है'—यह ज्ञान ढक गया है, ऐसे वे अपने स्वभावके परवश हुए मनुष्य मेरे शरण न होकर कामनापूर्तिके लिये अनेक उपायों और नियमोंको धारण, करते हुए दूसरे देवताओंके शरण हो जाते हैं अर्थात् उन

देवताओंकी उपासनामें लग जाते हैं ॥ २० ॥



उनको आप अपनी तरफ क्यों नहीं खींच लेते ?

मैं मनुष्योंकी दी हुई स्वतन्त्रताको छीनता नहीं हूँ, प्रत्युत जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक जिस-जिस देवताका पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ और वह उसी श्रद्धासे युक्त होकर सकामभावसे उस देवताकी उपासना करता है। परन्तु भैया, एक विचित्र बात है कि उनको उस उपासनासे जो फल मिलता है, वह मेरेद्वारा विधान किया हुआ ही मिलता है, पर सकामभावपूर्वक देवताओंकी उपासना करनेके कारण उन अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको अन्तवाला अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होनेवाला फल ही मिलता है, मैं नहीं मिलता। देवताओंका पूजन करनेवाले अधिक-से-अधिक देवताओंके पुनरावर्ती लोकोंमें जा सकते हैं, पर मेरे भक्त मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥२१—२३॥

जब आपके भक्त आपको ही प्राप्त होते हैं, तो फिर सब

आपके भक्त क्यों नहीं हो जाते ?

भैया! बुद्धिहीन मनुष्य मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमभावको न जानते हुए मुझ अव्यक्त परमात्माको जन्मने-मरनेवाला मनुष्य ही मानते हैं। फिर वे मेरे भक्त कैसे बन सकते हैं ॥२४॥

वे आपके परमभावको नहीं जानते तो न सही, पर आप उनके सामने अपने असली रूपसे प्रकट क्यों नहीं हो जाते ?

नहीं भैया! जब वे मूढ़लोग मेरेको अजन्मा और अविनाशी नहीं मानते, तब योगमायासे अच्छी तरहसे आवृत हुआ मैं उनके सामने अपने असली रूपसे प्रकट नहीं होता ॥२५॥

क्या उस योगमायाका परदा आपके सामने नहीं रहता ?

नहीं अर्जुन, मैं तो भूत, भविष्य और वर्तमानमें होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियोंको जानता हूँ, पर वे मायासे मोहित जीव मेरेको नहीं जानते ॥२६॥

आपको न जाननेमें मुख्य कारण क्या है ?

हे भरतवंशी अर्जुन! मुझे न जाननेमें मुख्य कारण है— राग और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाला द्वन्द्वमोह। हे परंतप! इसी द्वन्द्वमोहसे मोहित सम्पूर्ण प्राणी संसारमें जन्म-मरणको प्राप्त होते रहते हैं ॥२७॥

तो क्या सभी द्वन्द्वमोहसे मोहित रहते हैं ?

नहीं, जिन पुण्यकर्मा मनुष्योंके पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वमोहसे रहित हो जाते हैं और दृढ़व्रती होकर मेरे भजनमें लग जाते हैं ॥२८॥

दृढ़व्रती होकर आपके भजनमें लग जानेसे क्या होता है ?

जो जरा-मरण आदि दुःखोंसे मुक्ति पानेके लिये केवल मेरा ही आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं तथा वे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मेरेको अर्थात् मेरे समग्ररूपको ('सब कुछ वासुदेव ही है'— इस रूपको) जान जाते हैं। इतना ही नहीं, वे अनन्य भक्त अन्तकालमें मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥२९-३०॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

आठवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम ! अभी आपने अपने आश्रितजनोंके द्वारा अपने ब्रह्म, अध्यात्म आदि समग्ररूपको जाननेकी बात कही; अतः मैं यह पूछना चाहता हूँ कि वह ब्रह्म क्या है ?

भगवान् बोले—उस परम अक्षर अर्थात् निर्गुण-निराकार परमात्माको ब्रह्म कहते हैं।

वह अध्यात्म क्या है ?

जीवोंकी सत्ता-(होनेपन-) को अध्यात्म कहते हैं।

वह कर्म क्या है ?

महाप्रलयमें अपने कर्मोंके सहित मेरेमें लीन हुए जीवोंको महासर्गके आदिमें कर्मफल-भोगके लिये अपनेमेंसे प्रकट कर देना अर्थात् शरीरोंके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना ही त्यागरूप कर्म है।

अधिभूत किसको कहा गया है भगवन् ?

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! नष्ट होनेवाले मात्र पदार्थ अधिभूत हैं।

अधिदैव किसको कहा जाता है ?

सृष्टिके आरम्भमें सबसे पहले प्रकट होनेवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी अधिदैव हैं।

इस देहमें अधियज्ञ कौन है ?

इस मनुष्यशरीरमें अन्तर्यामीरूपसे मैं ही अधियज्ञ हूँ।

हे मधुसूदन! वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले मनुष्योंके द्वारा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं ?

हे अर्जुन! मैं पहले अन्तकालके विषयमें अपना नियम सुनाता हूँ। जो मनुष्य अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥१—५॥

अन्तकालमें आपका स्मरण करे तो आपको प्राप्त होगा, पर यदि आपका स्मरण न करे, तो ?

हे कुन्तीनन्दन! मनुष्य अन्तसमयमें जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उसी (अन्तसमयके) भावसे सदा भावित हुआ उसी भावको प्राप्त हो जाता है ॥६॥

तो फिर अन्तकालमें आपके स्मरणके लिये क्या करना चाहिये ?

तू अपने मन और बुद्धिको मेरेमें अर्पण करके सब समय मेरा ही स्मरण कर और प्राप्त कर्तव्यकर्म भी कर।

इससे क्या होगा ?

तू निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥७॥

आपके किस स्वरूपका चिन्तन करनेसे नियतात्मा मनुष्य आपको कैसे प्राप्त कर लेता है भगवन् ?

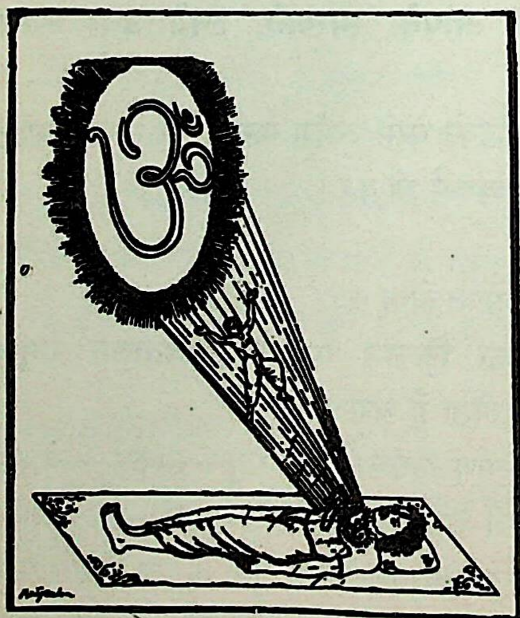
मेरे सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार—ये तीन स्वरूप हैं। इनमेंसे पहले मैं सगुण-निराकारके चिन्तनसे अपनी प्राप्ति बताता हूँ। हे पार्थ! जो मनुष्य अभ्यासयोगसे युक्त अनन्य चित्तसे परम दिव्य पुरुषका अर्थात् मेरे सगुण-निराकार स्वरूपका चिन्तन करता

हुआ शरीर छोड़ता है, वह मेरे उसी स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥८॥

वह स्वरूप कैसा है भगवन् ?

वह सर्वज्ञ है, सबका आदि है, सबपर शासन करनेवाला है, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है, सबका धारण-पोषण करनेवाला है, अचिन्त्य है, और अज्ञान-अन्धकारसे रहित तथा सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप है। ऐसे स्वरूपका जो चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तकालमें योगबलके द्वारा अचल मनसे अपने प्राणोंको भृकुटीके मध्यमें अच्छी तरहसे स्थापन करके शरीर छोड़नेपर उस परम दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥९-१०॥

मैंने आपके सगुण-निराकार स्वरूपके चिन्तनसे आपकी प्राप्तिकी बात सुन ली। अब यह बताइये कि निर्गुण-निराकारके चिन्तनसे नियतात्मा मनुष्य आपको कैसे प्राप्त करता है ?



वेद-वेत्ता लोग जिसको अक्षर कहते हैं, रागरहित यतिलोग जिसको प्राप्त करते हैं और जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्मचारी-लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदकी प्राप्तिकी बात मैं संक्षेपसे

कहूँगा। जो साधक अन्तकालमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके, मनको हृदयमें स्थापित करके और प्राणोंको मस्तिष्कमें धारण करके योग-धारणामें स्थित हुआ 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्मका उच्चारण और मेरे निर्गुण-निराकार स्वरूपका चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ११—१३ ॥

निर्गुण-निराकारके चिन्तनसे आप प्राप्त हो जाते हैं; यह बात मैंने सुन ली। अब यह बताइये कि सगुण-साकारके चिन्तनसे नियतात्मा मनुष्य आपको कैसे प्राप्त करता है ?

हे पार्थ! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य नित्य-निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता है, मेरेमें सदा लगे हुए उस योगीको मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको मैं सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ ॥१४॥



आपकी प्राप्तिसे क्या होता है भगवन् ?

जो महात्मालोग मेरे परम प्रेमसे युक्त होकर मेरेको प्राप्त कर लेते हैं, वे हर समय मिटनेवाले और दुःखोंके घररूप पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते ॥१५॥

तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है ?

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं, इसलिये उन लोकोंमें जानेपर फिर लौटकर आना ही पड़ता है अर्थात् फिर जन्म लेना ही पड़ता है। परन्तु हे कौन्तेय! मेरी प्राप्ति होनेपर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥१६॥

वे लोक पुनरावर्ती क्यों हैं ?

अवधिवाले होनेसे।

वह अवधि क्या है ?

दिन-रातके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष यह जानते हैं कि एक हजार चतुर्युगी* बीतनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है और एक हजार ही चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माकी एक रात होती है। ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें (नींदसे ब्रह्माके जगनेपर) ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरसे सम्पूर्ण प्राणी प्रकट होते हैं और ब्रह्माकी रातके आरम्भकालमें (ब्रह्माके सोनेपर) ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरमें सम्पूर्ण प्राणी लीन हो जाते हैं ॥१७-१८॥

वे प्राणी बार-बार क्यों जन्मते-मरते हैं भगवन् ?

प्राणियोंका समुदाय तो वही रहता है, जो कि पहले सर्गोंमें था। पर केवल अपने राग-द्वेषयुक्त स्वभावके परवश होकर वही प्राणिसमुदाय बार-बार ब्रह्माके दिनके समय उत्पन्न होता रहता है और ब्रह्माकी रातके समय लीन होता रहता है ॥१९॥

उस अव्यक्त-(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से भी श्रेष्ठ और कोई है क्या, जिसका कभी विनाश न होता हो?

हाँ, उस ब्रह्मासे भी पर (श्रेष्ठ) एक नित्य-निरन्तर रहनेवाला भावरूप अव्यक्त (परमात्मा) है, जो कि सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट

---

* तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षोंकी एक चतुर्युगी होती है।

होनेपर भी नष्ट नहीं होता। उसीको अव्यक्त, अक्षर और परमगति कहते हैं तथा जिसको प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परमधाम (स्वरूप) है।॥२०-२१॥

उस परमधामकी प्राप्ति कैसे हो ?

हे पार्थ! जिसके अन्तर्गत सब संसार है और जिससे सब संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा अनन्यभक्तिसे प्राप्त होता है ॥२२॥

अन्य (संसार) का सम्बन्ध न रखनेसे और अन्यका सम्बन्ध रखनेसे क्या होता है ?

हे अर्जुन! जिस मार्गसे गये हुए अन्यका सम्बन्ध न रखनेवाले प्राणी फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस मार्गसे गये हुए अन्यका सम्बन्ध रखनेवाले प्राणी फिर लौटकर संसारमें आते हैं, उन दोनों मार्गोंको मैं कहूँगा ॥२३॥

वे दोनों मार्ग कौन-से हैं भगवन् ?

जिस मार्गमें प्रकाशस्वरूप अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष और छः महीनोंवाले उत्तरायणके अधिपति देवता हैं, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गये हुए ब्रह्मवेत्तालोग ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् फिर लौटकर नहीं आते; और जिस मार्गमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और छः महीनोंवाले दक्षिणायनके अधिपति देवता हैं, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गये हुए सकाम मनुष्य स्वर्गादि ऊँचे लोकोंका सुख भोगकर फिर लौटकर आते हैं ॥२४-२५॥

ये दोनों मार्ग कबसे शुरू हुए हैं ?

प्राणियोंके ये दोनों शुक्ल और कृष्ण-मार्ग अनादि हैं। इनमेंसे शुक्लमार्गसे गये हुएको लौटकर नहीं आना पड़ता और कृष्णमार्गसे

गये हुएको लौटकर आना पड़ता है ॥२६॥

लौटकर न आना पड़े—इसके लिये क्या करें भगवन् ?

हे पार्थ! इन दोनों मार्गोंके परिणामको जाननेसे कोई भी योगी संसारमें मोहित नहीं होता। इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें योगयुक्त हो जा अर्थात् संसारमें सदा ही निर्लिप्त, निर्विकार रह ॥२७॥

योगी होनेसे क्या होगा भगवन् ?

वेदमें, यज्ञमें, तपमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, योगी उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण करके आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥२८॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नवाँ अध्याय

मेरे द्वारा बीचमें ही प्रश्न करनेसे आपने जो बातें कहीं, उनको मैंने सुन लिया। मेरेद्वारा प्रश्न करनेसे पहले आप और क्या कहना चाहते थे भगवन्?

भगवान् बोले— भैया! मैं पहले विज्ञानसहित ज्ञानकी बात कह रहा था। वही अत्यन्त गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान दोषदृष्टिरहित तेरे लिये मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर तू जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ॥१॥

वह विज्ञानसहित ज्ञान तो बड़ा कठिन होगा?

नहीं भैया, वह विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओंका राजा, सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्ममय और अविनाशी है तथा करनेमें (काममें लानेमें) बहुत ही सुगम है ॥२॥

ऐसी सुगम विद्याको सब-के-सब प्राप्त क्यों नहीं कर लेते?

हे परंतप! मनुष्य इस ज्ञान-विज्ञानरूप धर्मपर श्रद्धा-विश्वास नहीं करते, इसलिये वे मेरेको प्राप्त न होकर मौतरूपी संसारके मार्गमें लौटते रहते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं ॥३॥

वह ज्ञान-विज्ञानरूप धर्म (विद्या) क्या है भगवन्?

मैं अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें हैं

तथा मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें नहीं हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें नहीं हैं अर्थात् जहाँ प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाय, वहाँ तो सब प्राणियोंमें मैं हूँ और सब प्राणी मेरेमें हैं; परन्तु जहाँ प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता न मानी जाय, वहाँ मैं प्राणियोंमें नहीं हूँ और प्राणी मुझमें नहीं हैं; किन्तु सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ।

पर इस संसारका उत्पादक और आधार तो कोई होगा ही ?

भैया ! हूँ तो मैं ही; परन्तु मेरा स्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला, सबको धारण करनेवाला और उनका भरण-भोषण करनेवाला होता हुआ भी उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है, उनसे सर्वथा निर्लिप्त है—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग-(सामर्थ्य-) को समझ ।।४-५।।

तो फिर वे प्राणी आपमें किस प्रकार स्थित हैं ?

जैसे सब जगह विचरनेवाली महान् वायु निरन्तर आकाशमें ही स्थित रहती है, ऐसे ही सब प्राणी मेरेमें ही स्थित रहते हैं, ऐसा मान ।।६।।

फिर तो वे प्राणी मुक्त हो जाते होंगे ?

नहीं कुन्तीनन्दन, प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखनेवाले वे प्राणी महाप्रलयमें मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और महासर्गके आरम्भमें मैं फिर उनकी रचना कर देता हूँ ।।७।।

आप उनकी रचना कबतक करते रहते हैं ?

जबतक वे अपनी प्रकृति-(स्वभाव-) के परवश रहते हैं, तबतक मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके उनकी बार-बार रचना करता रहता हूँ ।।८।।

जब आप उनकी बार-बार रचना करते हैं, तब आपका उनकी रचनारूप कर्मोंके साथ सम्बन्ध रहता होगा भगवन् ?

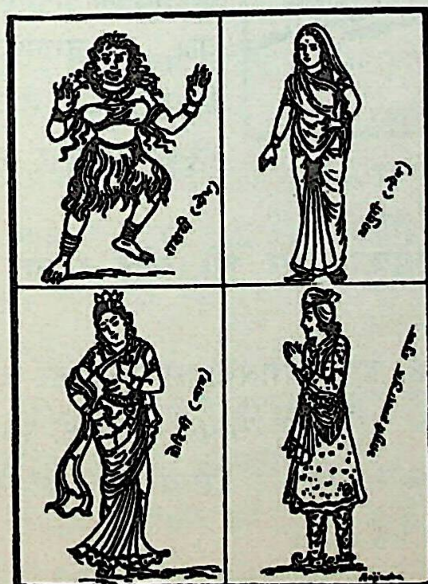
नहीं धनंजय, मैं उन कर्मोंमें आसक्तिरहित तथा उदासीनकी तरह सर्वथा निर्लिप्त रहता हूँ, इसलिये वे कर्म मुझे नहीं बाँधते ॥९॥

तो फिर आप सृष्टिकी रचना किस तरहसे करते हैं ?

वास्तवमें तो प्रकृति ही मेरी अध्यक्षतामें अर्थात् मेरेसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियोंकी रचना करती है। हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षताके कारण ही संसारमें विविध परिवर्तन हो रहा है ॥१०॥

आपकी शक्तिसे ही संसारमें सब कुछ हो रहा है, फिर भी सब लोग आपपर श्रद्धा क्यों नहीं करते ?

मूढ़लोग मेरे सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप परमभावको न जानते हुए मुझे साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं ॥११॥



वे मूढ़लोग किस तरहके होते हैं भगवन् ?

वे मूढ़लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले होते हैं और उनकी सब आशाएँ, सब शुभकर्म तथा सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् सत्-फल देनेवाले नहीं होते ॥१२॥

फिर आपपर श्रद्धा करनेवाले कौन होते हैं भगवन् ?

हे पृथानन्दन! जो महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी मानते हैं, वे मेरी दैवीसम्पत्तिका आश्रय लेकर अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं ॥१३॥



आपका भजन करनेवालोंके क्या लक्षण होते हैं ?

निरन्तर मेरेमें लगे हुए वे दृढ़व्रती मनुष्य भक्तिपूर्वक मेरे नामका कीर्तन करते हैं, मेरी प्राप्तिके लिये यत्न (लगनपूर्वक साधन) करते हैं और मेरेको नमस्कार करते हुए, मेरी उपासना करते हैं ॥१४॥

आपकी उपासना करनेवालोंका और भी कोई प्रकार है भगवन् ?

हाँ, है। कई साधक ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे कई साधक अपनेको पृथक् मानकर तथा विश्वको मेरा स्वरूप समझकर (सेव्य-सेवकभावसे) मेरी अनेक प्रकारसे उपासना करते हैं ॥१५॥

विश्वकी उपासना आपकी उपासना कैसे हुई भगवन् ?

मैं ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, घृत, अग्नि और हवनरूप क्रिया हूँ। मैं ही जाननेयोग्य विधि, पवित्रता, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्‌का पिता, धाता, माता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन! मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, जलको ग्रहण करता हूँ और फिर उस जलको वर्षारूपसे बरसा देता हूँ। मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ। और तो क्या कहूँ, सत् और असत् (जड-चेतन) भी मैं ही हूँ ॥१६–१९॥

जब विश्वरूपसे सब कुछ आप ही हैं, तो फिर आपको छोड़कर मनुष्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ?

सुखभोगकी इच्छावाले मनुष्य तीनों वेदोंमें कहे हुए यज्ञादि शुभकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा इन्द्रका पूजन करते हुए स्वर्गकी याचना करते हैं। फिर सोमरसको पीनेवाले और स्वर्गके प्रतिबन्धक पापसे रहित वे मनुष्य पुण्यके बलपर विशाल स्वर्गलोकमें जाते हैं और वहाँ देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस तरह तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानोंका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य बार-बार जन्मते और मरते हैं ॥२०-२१॥

यह दशा तो सकाम अनुष्ठानोंका आश्रय लेनेवालोंकी होती है, पर कोई आपका आश्रय ले, तो ?

जो अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन मेरेमें निरन्तर लगे हुए भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात्



अप्राप्तकी प्राप्ति करा देने और प्राप्तिकी रक्षा करनेका काम मैं स्वयं करता हूँ ॥२२॥

परन्तु आपकी उपासना न करके कोई श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी उपासना करे, तो ?

हे कुन्तीनन्दन ! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन (उपासना) करते हैं, वे भी वास्तवमें ('सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूँ'— इस दृष्टिसे) मेरा ही पूजन करते हैं, पर उनके द्वारा किया हुआ वह पूजन विधिपूर्वक नहीं होता ॥२३॥

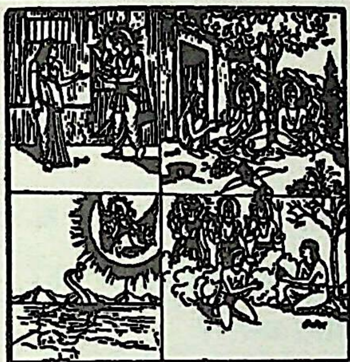
जब वह पूजन भी आपका ही है, तो फिर उनका वह पूजन अविधिपूर्वक क्यों है भगवन् ?

यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण शुभकर्मोंका भोक्ता और सम्पूर्ण संसारका मालिक मैं ही हूँ; परन्तु वे मेरेको इस तरह तत्त्वसे नहीं जानते। इसलिये उनका पतन हो जाता है ॥२४॥

उनका वह पतन क्या है ?

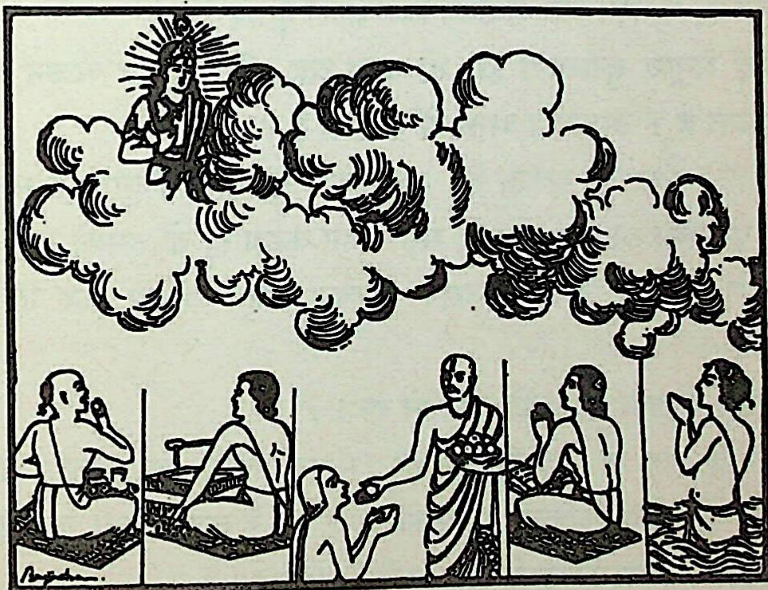
देवताओंके भक्त देवताओंको, पितरोंके भक्त पितरोंको और भूत-प्रेतोंके भक्त भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं; और मेरे भक्त तो मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥२५॥

जिस भक्तिसे आपके भक्त आपको ही प्राप्त होते हैं, वह भक्ति तो बड़ी कठिन होगी ?



नहीं भैया, वह तो बड़ी सुगम है। जो भक्त प्रेमसे मेरेको पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस मेरेमें तल्लीन हुए भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहारको मैं स्वयं खा लेता हूँ ॥२६॥

मुझे क्या करना चाहिये ?



हे कुन्तीपुत्र ! तू जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है और इसके सिवाय जो कुछ भी करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे ॥२७॥

अर्पण करनेसे क्या होगा भगवन् ?

भैया! तू बन्धनकारक सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मोंके फलसे मुक्त होकर मेरेको प्राप्त हो जायगा ॥२८॥

जो सब कुछ आपके अर्पण कर दे, उसको तो आप बन्धनसे मुक्त कर दें और जो सब कुछ आपके अर्पण न करे, वह बन्धनमें ही रहे! आपमें इतना पक्षपात क्यों ?

यह पक्षपात नहीं है भैया! मैं तो सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। मेरा न तो कोई द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें और मैं उनमें विशेषतासे हूँ ॥२९॥

कोई मनुष्य दुराचारी हो, तो क्या वह भी आपका भजन कर सकता है ? आपका भक्त हो सकता है ?

हाँ, जरूर हो सकता है। अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी दूसरोंका आश्रय छोड़कर मेरा भजन करता है, तो उसको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत अच्छा कर लिया है ॥३०॥

उसको केवल साधु ही मान लें क्या ?

नहीं, वह तो तत्काल धर्मात्मा (महान् पवित्र) बन जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता ॥३१॥

आपकी भक्तिके अधिकारी और भी कोई हो सकते हैं क्या ?

हाँ पार्थ, पापयोनिवाले तथा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय लेकर मुझे प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो जन्म और कर्मसे पवित्र

ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, वे मेरे भक्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है।

मैं ऐसा भक्त कैसे बनूँ भगवन् ?

इस नाशवान् और सुखरहित शरीरको प्राप्त करके तू मेरा भजन कर ॥३२-३३॥

आपका भजन मैं कैसे करूँ ?

तू स्वयं मेरा ही भक्त हो जा, मेरेमें ही मनवाला हो जा, मेरा ही पूजन करनेवाला हो जा और मेरेको ही नमस्कार कर। इस तरह मेरे साथ अपने-आपको लगाकर मेरे परायण हुआ तू मेरेको ही प्राप्त होगा ॥३४॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

दसवाँ अध्याय

भगवान् बोले—अरे भैया! तू फिर मेरे परम वचनको* सुन, जिसको मैं तेरे हितकी दृष्टिसे कहूँगा; क्योंकि हे महाबाहो! तू मेरेमें अत्यन्त प्रेम रखता है।

वह परम वचन क्या है भगवन्?

यह सब संसार मेरा ही प्रकट किया हुआ है, इस बातको पूरी तरहसे न देवता जानते हैं और न महर्षि ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ ॥१-२॥

जब सबके मूल आपको देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते, तो फिर मनुष्य आपको कैसे जानेगा और उसका कल्याण कैसे होगा?

जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़तासे मानता है, वह मनुष्योंमें जानकार है और वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥३॥

वह आपका परम वचन मैं कैसे समझूँ भगवन्?

बुद्धि, ज्ञान, मोहरहित होना, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंको वशमें करना, मनको वशमें करना, सुख, दुःख उत्पन्न होना, लीन होना, भय,

---

* सबके मूलमें अपने-आपको बताना ही भगवान्का परम वचन है।

अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके और अलग-अलग भाव मेरेसे ही होते हैं। केवल ये भाव ही नहीं, जो मेरेमें श्रद्धा-भक्ति रखते हैं और जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है, वे सात महर्षि और उनसे भी पहले होनेवाले चार सनकादि तथा चौदह मनु भी मेरे मनसे पैदा हुए हैं अर्थात् उन सबका उत्पादक और शिक्षक मैं ही हूँ ॥४—६॥

बुद्धि, ज्ञान आदि और महर्षि आदि मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं — यह कहनेमें आपका क्या तात्पर्य है ?

जो मेरी इस विभूति और योगको * श्रद्धासे दृढ़तापूर्वक मान लेता है, उसकी मेरेमें अविचल भक्ति हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥७॥

वह दृढ़तासे मानना क्या है ?

मैं संसारमात्रका मूल कारण हूँ और मेरेसे ही सारा संसार चेष्टा कर रहा है—ऐसा मेरेको दृढ़तासे मानकर मेरे ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं ॥८॥



उनके भजनका प्रकार क्या है भगवन् ?

मेरेमें मनवाले, मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जनाते

* भगवान्‌की सामर्थ्यका नाम योग है और इस योगसे प्रकट होनेवाला जितना ऐश्वर्य है, उसका नाम 'विभूति' है।

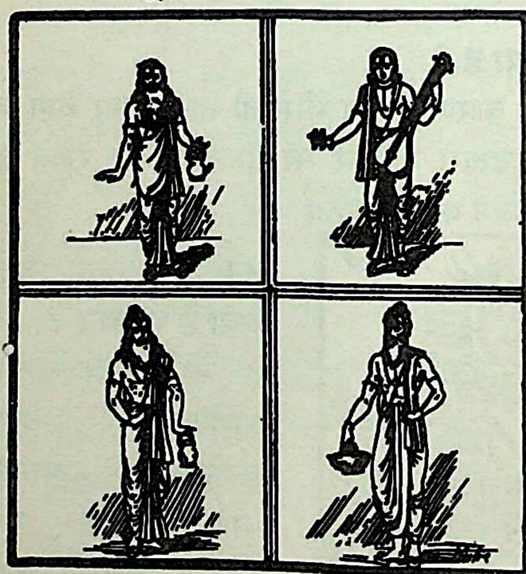
हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मेरेमें ही प्रेम करते हैं ॥ ९ ॥

ऐसे भक्तोंके लिये आप क्या करते हैं ?

ऐसे नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं ही अपनी ओरसे वह बुद्धियोग (समता) देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ॥१० ॥

इसके सिवाय क्या आप और भी कुछ करते हैं ?

हाँ, उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनके स्वरूपमें स्थित हुआ मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञान-दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ ॥११॥



अर्जुन बोले—अहो ! हे भगवन् ! भक्तोंपर आपकी अलौकिक, विलक्षण कृपाकी बात सुनकर मैं गद्‌गद हो रहा हूँ ! हे प्रभो ! निर्गुण-निराकार ब्रह्म, सबके परम स्थान और महान् पवित्र आप ही हैं। आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु (व्यापक) हैं—ऐसा सब-के-सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥१२-१३॥

मैं जो कहता हूँ, उसपर तुझे विश्वास है अर्जुन ?

हाँ केशव, मेरेसे आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो दिव्यशक्तिवाले देवता जानते हैं और न विलक्षण मायाशक्तिवाले दानव ही जानते हैं॥ १४॥

देवता भी नहीं जानते, तो फिर कौन जानता है ?

हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं। इसलिये आप जिन विभूतियोंसे सम्पूर्ण संसारको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें आप ही समर्थ हैं॥१५-१६॥

विभूतियोंको सुनकर क्या करोगे ?

हे योगिन्! हरदम सांगोपांग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ ? और हे भगवन्! किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ ? इसलिये हे जनार्दन! आप अपनी विभूति और योगको विस्तारसे फिर कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनकर मेरी तृप्ति नहीं हो रही है॥१७-१८॥

भगवान् बोले— हाँ, ठीक है। मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है॥१९॥

आपकी वे दिव्य विभूतियाँ कौन-सी हैं भगवन् ?

हे गुडाकेश! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भी मैं ही हूँ; और प्राणियोंके अन्तःकरणमें आत्मरूपसे भी मैं ही स्थित हूँ।

अदितिके पुत्रोंमें विष्णु (वामन) और प्रकाशमान चीजोंमें किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ। मरुतोंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ। वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और प्राणियोंकी चेतना (प्राणशक्ति) मैं हूँ। रुद्रोंमें शंकर, यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर, वसुओंमें अग्नि और शिखरवाले पर्वतोंमें मेरु मैं हूँ। हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझ।

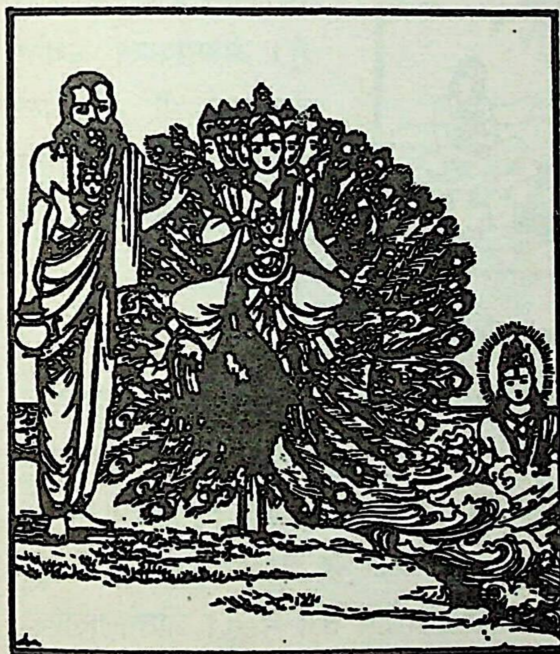
और आपकी कौन-सी विभूतियाँ हैं ?



सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ। महर्षियोंमें भृगु, वाणियों-(शब्दों-) में एक अक्षर (प्रणव), सम्पूर्ण यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ। सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूँ। घोड़ोंमें अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले उच्चैःश्रवा नामक

घोड़ेको, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथीको और मनुष्योंमें राजाको मेरी विभूति मान॥२०—२७॥

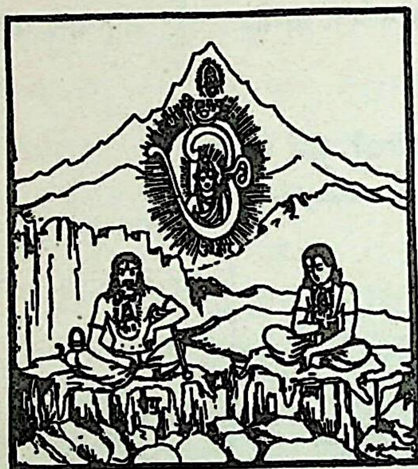
और किनको आपकी विभूतियाँ मानूँ भगवन् ?



अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ। धर्मके अनुकूल सन्तान उत्पत्तिका हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ। नागोंमें शेषनाग, जल-जन्तुओंका अधिपति वरुण, पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ। दैत्योंमें प्रह्लाद, गणना करनेवालोंमें काल, पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ। पवित्र करनेवालोंमें वायु, शस्त्रधारियोंमें राम, जल-जन्तुओंमें मगर और बहनेवाले स्रोतोंमें गंगाजी मैं हूँ ॥२८—३१॥

और आप किन-किनमें हैं ?

हे अर्जुन! सम्पूर्ण सर्गोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका



तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद मैं हूँ। अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास मैं हूँ। अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला धाता भी मैं हूँ॥३२—३३॥

और आप किन-किन रूपोंमें हो ?

सबका हरण करनेवाली मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका हेतु मैं हूँ। स्त्री-जातिमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ। गायी जानेवाली श्रुतियोंमें बृहत्साम और वैदिक छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ। बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छः ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ। छल करनेवालोंमें जूआ और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ। जीतनेवालोंकी विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव मैं हूँ॥३४—३६॥

और आपके कौन-से स्वरूप हैं भगवन् ?

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें धनञ्जय (तू), मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य मैं हूँ। दमन करनेवालोंमें दण्ड, विजय चाहनेवालोंमें नीति, गोपनीय भावोंमें मौन और ज्ञानवानोंमें ज्ञान मैं हूँ। और तो क्या कहूँ, सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज (कारण) मैं ही हूँ;

क्योंकि हे अर्जुन! मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ ॥३७—३९॥

क्या आपने अपनी पूरी विभूतियाँ कह दीं ?

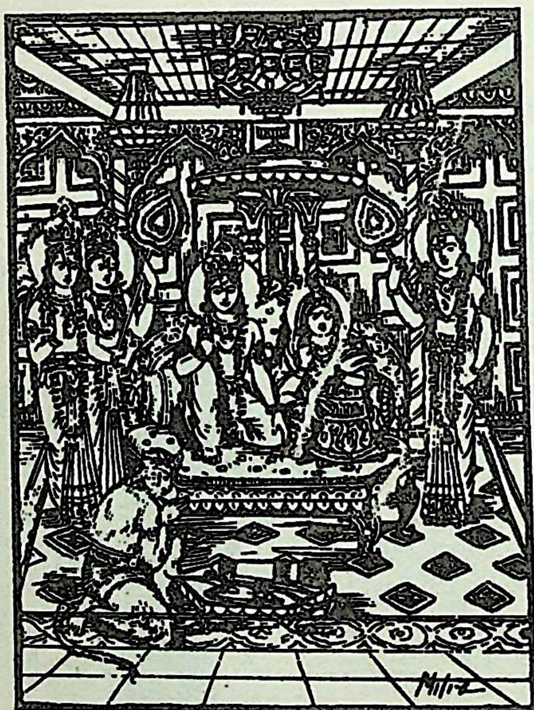


नहीं परंतप, मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। मैंने तुम्हारे सामने अपनी विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, वह तो केवल संक्षेपसे कहा है; क्योंकि मैं अपनी विभूतियोंको पूरी तरह तो कह ही नहीं सकता ॥४०॥

फिर भी आपकी विभूतियोंकी खास पहचान क्या है भगवन् ?

संसारमात्रमें जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे ही तेज-(योग-) के किसी अंशसे उत्पन्न हुई समझ।

हे भैया अर्जुन ! सम्पूर्ण जगत् (अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों)-को अपने किसी एक अंशमें व्याप्त करके मैं तेरे सामने हाथमें लगाम और



चाबुक लिये बैठा हूँ, तेरी आज्ञाका पालन करता हूँ, फिर तुझे इस प्रकारकी बहुत बातें जाननेकी क्या जरूरत है ? ।।४१-४२।।

———  ———

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले— हे भगवन्! केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने जो परम गोपनीय आध्यात्मिक बात (सबके मूलमें मैं हूँ) कही है, उससे मेरा मोह चला गया है। हे कमलनयन! मैंने आपसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी बातें सुनीं तथा आपका अविनाशी माहात्म्य भी विस्तारसे सुना ॥१-२॥

अब तुम और क्या चाहते हो ?

हे पुरुषोत्तम! आप अपनेको जैसा कहते हैं, बात वास्तवमें ठीक ऐसी ही है। अब हे परमेश्वर ! मैं आपका वह परम ऐश्वर रूप देखना चाहता हूँ, जिसके एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड व्याप्त हैं। परन्तु हे प्रभो! मेरे द्वारा आपका वह परम ऐश्वर रूप देखा जा सकता है— ऐसा अगर आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! आप अपने उस अविनाशी स्वरूपको मुझे दिखा दीजिये न ॥३-४॥

भगवान् बोले— हे पार्थ! तू मेरे एक रूपको ही क्यों, मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख, जो कि दिव्य हैं, अनेक प्रकारके हैं, अनेक रंगोंके हैं और अनेक तरहकी आकृतियोंके हैं ॥५॥

और क्या देखूँ भगवन् ?

हे भारत ! तू आदित्योंको, वसुओंको, रुद्रोंको, अश्विनीकुमारोंको तथा मरुतोंको भी देख। जिन रूपोंको तूने पहले कभी नहीं देखा है,

ऐसे बहुत-से आश्चर्यजनक रूपोंको भी तू देख ॥६॥

मैं कहाँ देखूँ ?

हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! मेरे इस शरीरके किसी भी एक अंशमें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को तू अभी देख। अगर इसके सिवाय तू और भी कुछ देखना चाहता है, तो वह भी तू देख* ॥ ७ ॥

आप तो बार-बार 'तू देख, तू देख' ऐसा कह रहे हैं, पर मुझे तो वह नहीं दीख रहा है, कैसे देखूँ ?

भैया! तू अपने इस चर्मचक्षुसे मेरेको नहीं देख सकता। ले! मैं तुझे दिव्यचक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी इस ईश्वर-सम्बन्धी सामर्थ्यको देख ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर भगवान्‌ने क्या किया संजय ?

संजय बोले—हे राजन्! ऐसा कहकर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर्यमय रूप दिखाया ॥९॥

किस तरहका रूप दिखाया ?

जिसके अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक तरहके अद्‌भुत दर्शन हैं, अनेक दिव्य गहने हैं और जिसने हाथोंमें अनेक तरहके दिव्य अस्त्र-शस्त्र उठा रखे हैं, अनेक दिव्य मालाएँ और दिव्य वस्त्र धारण कर रखे हैं, शरीरपर अनेक दिव्य चन्दन आदि लगा रखे हैं, ऐसे सर्वथा आश्चर्यमय और चारों तरफ मुखवाले अपने अनन्त रूपको दिखाया ॥ १०-११ ॥

* अर्जुन और क्या देखना चाहते थे ? अर्जुनके मनमें यह सन्देह था कि युद्धमें जीत हमारी होगी या कौरवोंकी? (गीता २ । ६)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि वह भी तू मेरे इस शरीरके एक अंशमें देख ले।

वह रूप आश्चर्यमय क्यों था संजय ?

यदि आकाशमें हजारों सूर्योंका एक साथ उदय हो जाय, तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस विश्वरूपके प्रकाशके सामने कुछ भी नहीं है ॥ १२ ॥

अर्जुनने वह रूप कहाँ देखा ?

अर्जुनने देवोंके देव भगवान्‌के शरीरके एक अंशमें सम्पूर्ण संसारको अनेक विभागोंसे युक्त देखा ॥१३॥

उस रूपको देखकर अर्जुनने क्या किया संजय ?

भगवान्‌के उस विश्वरूपको देखकर अर्जुन बहुत आश्चर्यचकित हुए और उनके रोंगटे खड़े हो गये। वे हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए विश्वरूप भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥१४॥

अर्जुन क्या बोले संजय ?

अर्जुन बोले— हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, कैलाशपर विराजमान शंकरको, सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ ॥१५॥

हे विश्वरूप ! हे विश्वेश्वर! मैं आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रवाला तथा सब तरफसे अनन्त रूपवाला देख रहा हूँ। मैं आपके आदि, मध्य और अन्तको भी नहीं देख रहा हूँ। मैं आपको सिरपर मुकुट तथा हाथोंमें गदा, चक्र, (शंख और पद्म) धारण किये हुए, तेजका समूह, सब तरफ प्रकाश करनेवाले, देदीप्यमान अग्नि



और सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंसे कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब तरफसे अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ ॥१६-१७॥

हे नाथ! आप ही परम अक्षरब्रह्म हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्वके परम आधार हैं और आप ही सनातनधर्मकी रक्षा करनेवाले सनातन पुरुष हैं— ऐसा मैं मानता हूँ ॥१८॥

केवल मानते ही हो या देख भी रहे हो अर्जुन ?

मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखोंवाले और अपने तेजसे सम्पूर्ण संसारको संतप्त करते हुए देख रहा हूँ ॥१९॥

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अन्तराल और दसों दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हो रही हैं। आपके इस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं। अहो ! वे ही देवताओंके समुदाय (जो मैंने पहले स्वर्गमें देखे थे) आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो! मंगल हो!' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥२०-२१॥

जो रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी आश्चर्यचकित होकर आपको देख रहे हैं ॥२२॥

हे महाबाहो ! आपके अनेक मुखों और नेत्रोंवाले, अनेक भुजाओं,

जंघाओं और चरणोंवाले, अनेक उदरोंवाले तथा अनेक विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूपको देखकर सब प्राणी भयभीत हो रहे हैं तथा मैं स्वयं भी भयभीत हो रहा हूँ ॥२३॥

हे विष्णो! अनेक प्रदीप्त वर्णवाले, आकाशको स्पर्श करनेवाले, फैलाये हुए मुखवाले तथा प्रदीप्त और विशाल नेत्रोंवाले आपके देदीप्यमान रूपोंको देखकर भीतरसे भयभीत हुआ मैं धैर्य और शान्तिको नहीं पा रहा हूँ। आपके प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके कारण भयानक मुखोंको देखकर मेरेको न तो दिशाओंका पता लग रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आंप प्रसन्न होइये ॥२४-२५॥

हमारे पक्षके मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। राजाओंके समुदायोंके सहित धृतराष्ट्रके वे सब-के-सब पुत्र आपके विकराल दाढ़ोंके कारण भयंकर मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रवेश कर रहे हैं। उनमेंसे कई-एक तो चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं ॥२६-२७॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रकी तरफ दौड़ते हैं, ऐसे ही मनुष्यलोकके वे भीष्म, द्रोण आदि महान् शूरवीर आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतंगे मोहवश अपने नाशके लिये बड़ी तेजीसे दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये दुर्योधन आदि सब लोग मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़ी तेजीसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं; और आप भी अपने प्रज्वलित मुखोंके द्वारा सबको खाते हुए चारों तरफसे बार-बार

चाट रहे हैं। हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्‌को परिपूर्ण करके सबको संतप्त कर रहा है ॥२८—३०॥

हे देवश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न होइये। आदिरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ। मुझे यह बताइये कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं ?

भगवान् बोले— मैं सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ।

आप यहाँ क्यों आये हैं भगवन् ?

इस समय मैं इन सब लोगोंका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ।

यहाँ आपसे कोई बचेगा कि नहीं ?

तेरे प्रतिपक्षमें जितने योद्धालोग खड़े हैं, वे सब तेरे युद्ध किये बिना भी नहीं रहेंगे। ये सब-के-सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इसलिये तू युद्धके लिये खड़ा हो जा और यशको प्राप्त कर तथा शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको प्राप्त कर।

तो फिर मुझे युद्ध करनेकी क्या जरूरत है ?

हे सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्तमात्र बन जा ॥३१—३३॥

परन्तु महाराज! भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण आदि शूरवीरोंपर विजय कैसे होगी ?

भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी जितने शूरवीर हैं वे सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। उन मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको ही तू मार। अतः तू भयभीत मत हो और युद्ध कर। युद्धमें तू सम्पूर्ण शत्रुओंको

जीतेगा ॥३४॥

इसके बाद क्या हुआ संजय ?

संजय बोले—भगवान् केशवके ऐसे वचनोंको सुनकर भयसे काँपते हुए अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और अत्यन्त भयभीत होकर फिर प्रणाम करके गद्‌गद वाणीसे भगवान् कृष्णकी स्तुति करने लगे ॥३५॥

अर्जुन बोले— हे अन्तर्यामी भगवन्! आपके नाम, गुण आदिका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुरागको प्राप्त हो रहा है। आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं और सिद्धोंके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह सब होना उचित ही है ॥३६॥

यह सब उचित क्यों है अर्जुन ?

क्योंकि आप अनन्त हैं, सम्पूर्ण देवताओंके मालिक हैं और इस जगत्के आधार हैं। आप अक्षरस्वरूप हैं। आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से भी पर जो कुछ है, वह भी आप ही हैं। हे महात्मन्! आप गुरुओंके भी गुरु और ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले हैं—ऐसे आपके लिये वे सिद्धोंके समुदाय नमस्कार क्यों नहीं करें ॥३७॥

आप ही आदिदेव और पुराणपुरुष हैं। आप ही इस संसारके परम आधार हैं। आप ही सबको जाननेवाले और जाननेयोग्य हैं। आप ही सबके परम गन्तव्य स्थान हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे ही सम्पूर्ण संसार व्याप्त है ॥३८॥

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और

पितामह ब्रह्माजीके भी पिता हैं। इसलिये आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! हे सर्व! आपको सामनेसे नमस्कार हो! पीछेसे नमस्कार हो! सब तरफसे ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! आप अमित विक्रमवाले हैं। आपने सम्पूर्ण संसारको व्याप्त कर रखा है, अतः सब कुछ आप ही हैं ॥३९-४०॥

हे भगवन्! आपकी इस महिमा और स्वरूपको न जानते हुए मैंने आपको सखा मानकर प्रमादसे अथवा प्रेमसे (बिना सोचे-समझे) 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ कहा है; और हे अच्युत! चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समयमें अकेले अथवा उन सखाओं, कुटुम्बियों आदिके सामने मैंने हँसी-दिल्लगीमें आपका जो तिरस्कार किया है, उसके लिये मैं अप्रमेयस्वरूप आपसे क्षमा माँगता हूँ ॥४१-४२॥

आपही इस चराचर जगत्के पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं। हे असीम प्रभाववाले भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है! इसलिये शरीरसे लम्बा पड़कर स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको मैं प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। जैसे पिता पुत्रके, सखा सखाके और पति पत्नीके तिरस्कारको सह लेता है, ऐसे ही हे देव! आप मेरे द्वारा किये गये तिरस्कारको सह लीजिये ॥४३-४४॥

ठीक है भैया! अब तुम क्या चाहते हो ?

आपके ऐसे अपूर्व रूपको देखकर मैं हर्षित भी हो रहा हूँ और

साथ-ही-साथ भयसे मेरा मन व्याकुल भी हो रहा है। अतः हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हो जाइये और अपना वही देवरूप (विष्णुरूप) दिखाइये, जो सिरपर मुकुट धारण किये हुए और हाथोंमें गदा, चक्र, शंख और पद्म लिये हुए है। मैं अब आपके उसी रूपको देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते !आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो जाइये॥ ४५-४६ ॥

भगवान् बोले—हे अर्जुन! मैंने बहुत प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्यसे तुझे यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेजोमय, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप दिखाया है, जिसको तुम्हारे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा है ॥४७॥

आपके इस विश्वरूपको मनुष्य किस साधनसे देख सकता है भगवन् ?

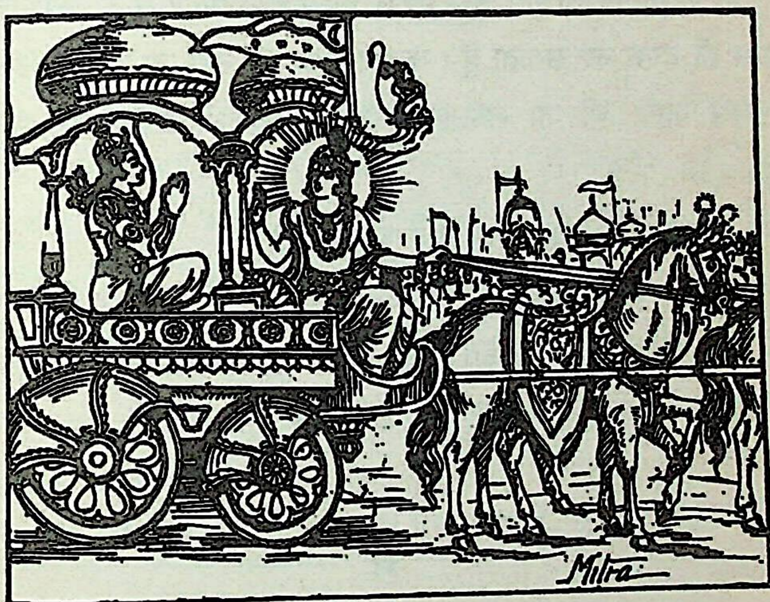
किसी भी साधनसे नहीं। हे कुरुप्रवीर! मनुष्यलोकमें तुम-जैसे कृपापात्रके सिवाय इस तरहके रूपको कोई वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, उग्र तपस्या और बड़ी-बड़ी क्रियाओंसे भी नहीं देख सकता ॥४८॥

परन्तु भगवन्! इस समय तो मैं आपके घोररूपको देखकर बहुत भयभीत हो रहा हूँ; क्या करूँ ?

भैया! मेरा ऐसा घोररूप देखकर तुझे भयभीत नहीं होना चाहिये और अपनेमें विमूढ़भाव (मोह) भी नहीं आने देना चाहिये। अब तू भयरहित और प्रसन्न मनवाला होकर मेरे उसी रूपको फिर देख ॥४९॥

ऐसा कहकर भगवान्ने अर्जुनको कौन-सा रूप दिखाया संजय ?

संजय बोले— ऐसा कहकर भगवान् वासुदेवने अर्जुनको अपना चतुर्भुजरूप दिखाया। फिर भगवान्‌ने पुनः सौम्य द्विभुजरूप होकर



भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया ॥५०॥

अब तो तुम्हारा भय दूर हो गया न अर्जुन ?

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आ गया हूँ ॥५१॥

भगवान् बोले— तुमने मेरा यह जो चतुर्भुजरूप देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं, देवतालोग भी इस रूपको देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं। तुमने मुझे जैसा देखा है, वैसा मैं वेदोंसे,

तपसे, दानसे और यज्ञसे भी नहीं देखा जा सकता हूँ ॥५२-५३॥

तो फिर आप कैसे देखे जा सकते हैं ?

हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं अनन्यभक्तिके द्वारा ही देखा जा सकता हूँ। केवल देखा ही नहीं जा सकता, प्रत्युत तत्त्वसे जाना भी जा सकता हूँ और प्राप्त भी किया जा सकता हूँ ॥५४॥

वह अनन्यभक्ति कैसी होती है भगवन् ?

हे पाण्डव! सब कर्मोंको मेरे लिये करना, मेरे ही परायण होना, मेरा ही भक्त होना, आसक्तिरहित होना और किसी भी प्राणीके साथ वैर न रखना— ऐसी भक्तिसे युक्त भक्त मेरेको प्राप्त हो जाता है ॥५५॥



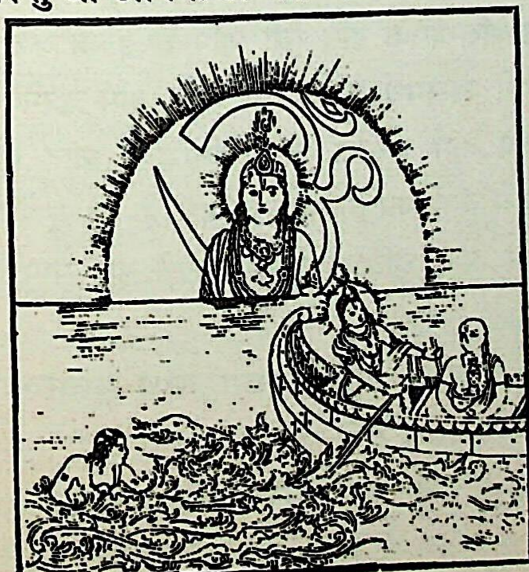
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले— अभी आपने जैसा कहा है, कई तो निरन्तर आपमें लगे रहकर आप- (सगुण-साकार-) की उपासना करते हैं और कई आपके अक्षर अव्यक्त-रूप (निर्गुण-निराकार-) की उपासना करते हैं। उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं ? ॥१॥

भगवान् बोले— मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, उनको मैं सर्वश्रेष्ठ उपासक मानता हूँ ॥२॥

परन्तु जो आपके अव्यक्त-रूपकी उपासना करते हैं, उनको ?



सब जगह समबुद्धि-वाले और प्राणिमात्रके हितमें रत रहनेवाले जो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको संयम करके सब जगह परिपूर्ण, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अनिर्देश्य, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्तकी उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥३-४॥

तो फिर आपकी भक्ति करनेवाले श्रेष्ठ कैसे हुए भगवन् ?

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले जो मनुष्य अव्यक्त स्वरूपकी उपासना करते हैं, उनको अपने साधनमें कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियोंको अव्यक्तकी प्राप्ति बड़ी कठिनतासे होती है। परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हो गये हैं और अनन्यभावसे मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ ! उन मेरेमें लगे हुए चित्तवाले भक्तोंका मैं स्वयं मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत जल्दी उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ ॥५—७॥

ऐसा भक्त मैं कैसे बन सकता हूँ भगवन् ?

तू मेरेमें ही मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा। मेरेमें ही मन-बुद्धि लगानेके बाद तू मेरेमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है। अगर इस तरह मन-बुद्धिको मेरेमें स्थिर करनेमें तू असमर्थ है, तो हे धनंजय! तू अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा कर। अगर तू अभ्यासयोगमें भी असमर्थ है तो मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जा। मेरे लिये कर्म करनेसे भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा। अगर तू मेरे लिये कर्म करनेमें भी असमर्थ है तो तू मेरे भक्तियोगके आश्रित होकर मन, बुद्धिको वशमें रखते हुए सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर ॥८—११॥

इस क्रमसे तो कर्मोंके फलका त्याग करना चौथे नम्बरका (निकृष्ट) साधन हुआ न भगवन् ?

नहीं भैया, योग-(समता-) रहित अभ्याससे शास्त्रीय ज्ञान श्रेष्ठ है, योगरहित शास्त्रीय ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और योगरहित ध्यानसे कर्मोंके

फलका त्याग करना श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है ॥१२॥

भगवन्! उपर्युक्त चारों साधनोंमेंसे किसी एक साधनसे आपको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तके क्या लक्षण होते हैं अर्थात् उसमें कौन-कौनसे गुण होते हैं ?

उसका किसी भी प्राणीके साथ द्वेष नहीं होता। इतना ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मित्रता (प्रेम) और सबपर करुणा (दयालुता) रहती है। वह अहंता और ममतासे रहित, क्षमाशील तथा सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम रहता है। वह हरेक परिस्थितिमें निरन्तर सन्तुष्ट रहता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि उसके वशमें रहते हैं। उसके मन-बुद्धि मेरे ही अर्पित रहते हैं। ऐसा वह दृढ़ निश्चयी भक्त मेरेको प्यारा है ॥१३-१४॥

और कौन आपका प्यारा है ?

जिस भक्तसे दूसरोंको उद्वेग नहीं होता और जिसको खुद भी दूसरोंसे उद्वेग नहीं होता, ऐसा हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित भक्त मेरेको प्यारा है ॥१५॥

और कौन आपका प्यारा है भगवन् ?

जो अपने लिये किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं रखता, जो बाहर-भीतरसे पवित्र है, जो दक्ष (चतुर) है अर्थात् जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला है, वह काम (भगवान्‌को प्राप्त करना) उसने कर लिया है, जो संसारसे उपराम रहता है, जिसके हृदयमें हलचल नहीं होती, तथा जो भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्यागी है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥१६॥

और कौन आपका प्यारा है ?

जो न तो अनुकूलताके प्राप्त होनेपर हर्षित होता है और न प्रतिकूलताके प्राप्त होनेपर द्वेष करता है तथा जो न दुःखदायी परिस्थितिके प्राप्त होनेपर शोक करता है और न सुखदायी परिस्थितिकी इच्छा ही करता है तथा जो शुभ-अशुभ कर्मोंमें राग-द्वेषका त्यागी है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥१७॥

और कौन आपका प्यारा है भगवन् ?

जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता और सुख-दुःखमें समता रखनेवाला और संसारकी आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला है, जो मननशील है, जो जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सन्तुष्ट है, जो रहनेके स्थान तथा शरीरमें भी ममता-आसक्तिसे रहित है और जो स्थिर बुद्धिवाला है, ऐसा भक्त मेरेको प्यारा है* ॥ १८-१९ ॥

अभीतक तो आपने अपने सिद्ध भक्तोंको प्यारा बताया, अब यह बताइये कि आपको अत्यन्त प्यारा कौन है ?

जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरे परायण हो गये हैं और अभी कहे हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका रुचिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, ऐसे साधक भक्त मेरेको अत्यन्त प्यारे हैं ॥२०॥



* यहाँतक पाँच प्रकारके सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन हुआ है। पाँचों प्रकारके भक्तोंके अलग-अलग लक्षण बतानेका तात्पर्य है कि भक्तोंके स्वभाव, उनकी साधन-पद्धतियाँ अलग-अलग होती हैं। इसलिये किसी भक्तमें मुख्यरूपसे कोई लक्षण घटता है तो किसीमें कोई लक्षण घटता है; परन्तु संसारके सम्बन्धका त्याग और भगवान्‌में प्रेम सबका समान ही होता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तेरहवाँ अध्याय

जो आपकी (सगुण-साकार रूपकी) उपासना करते हैं, वे तो आपको अत्यन्त प्यारे होते हैं, अब यह बताइये कि जो आपके निर्गुण-निराकार रूपकी उपासना करते हैं, वे कैसे होते हैं ?

भैया! वे विवेकी होते हैं।

विवेक किसका होता है भगवन् ?

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! 'यह' रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र' कहते हैं, और जो इस क्षेत्रको जानता है, उसको ज्ञानीलोग 'क्षेत्रज्ञ' (शरीरी) कहते हैं ॥१॥

उस क्षेत्रज्ञका स्वरूप क्या है ?

हे भारत! सम्पूर्ण क्षेत्रों-(शरीरों-) में क्षेत्रज्ञ-(शरीरी-) रूपसे मैं ही हूँ—ऐसा तू जान*।

वह जानना क्या है भगवन् ?

क्षेत्र अलग है और क्षेत्रज्ञ अलग है— इसको ठीक-ठीक जानना ही मेरे मतमें ज्ञान है। तात्पर्य है कि क्षेत्रकी संसारके साथ एकता है

---

* यहाँ 'सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे जान'— ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि यह शरीर तो प्रकृतिका अंश है, इसलिये तू इससे सर्वथा विमुख हो जा; और तू मेरा अंश है, इसलिये तू सर्वथा मेरे सम्मुख हो जा। दूसरा तात्पर्य यह है कि तूने जहाँ क्षेत्र-(शरीर-) के साथ अपनी एकता स्वीकार कर रखी है, वहाँ मेरे साथ अपनी एकता स्वीकार कर ले; क्योंकि वास्तवमें तेरी शरीरके साथ एकता है नहीं और मेरे साथ तेरी स्वतःसिद्ध एकता है। इसको तू जान ले।

और क्षेत्रज्ञकी मेरे साथ एकता है— इसका ठीक-ठीक अनुभव करना ही मेरे मतमें ज्ञान है ॥२॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानके लिये कौन-सी बातें जाननी आवश्यक होती हैं ?

छः बातें जाननी आवश्यक होती हैं— क्षेत्रके विषयमें चार और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो। वह 'क्षेत्र' जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला है और जिससे पैदा हुआ है; तथा वह 'क्षेत्रज्ञ' जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपसे तू मेरेसे सुन ॥३॥

तो इसका विस्तारसे वर्णन कहाँ हुआ है भगवन् ?

ऋषियोंने, वेदोंकी ऋचाओंने और युक्तियुक्त तथा निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंने इसको विस्तारसे कहा है ॥४॥

वह क्षेत्र क्या है ?

मूल प्रकृति, समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, एक मन और इन्द्रियोंके पाँच विषय— यह चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र है * ॥५॥

वह क्षेत्र किन विकारोंवाला है ?

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, प्राणशक्ति और धारण-शक्ति—इन

* मूल प्रकृति सबकी माँ है। उस प्रकृतिसे बुद्धिरूपी पुत्री पैदा हुई। बुद्धिसे अहंकाररूपी पुत्र पैदा हुआ। अहंकारकी सन्तान हुई— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश— ये पाँच महाभूत। पाँच महाभूतोंकी सन्तान हुई— दस इन्द्रियाँ, एक मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ये पाँच विषय। इन्द्रियाँ, मन और पाँच विषयोंसे कोई सन्तान पैदा नहीं हुई।

सात विकारोंसहित यह क्षेत्र मैंने संक्षेपसे कहा है ॥६॥

विकारोंसहित क्षेत्र 'यह' रूपसे (अपनेसे अलग) कैसे दीखे भगवन् ?

१-अपनेमें श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव।

२-अपनेमें दिखावटीपनका न होना।

३-शरीर, मन और वाणीसे किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न देना।

४-क्षमाका भाव।

५-शरीर, मन और वाणीकी सरलता।

६-ज्ञानप्राप्तिके लिये गुरुके पास जाकर उनकी सेवा आदि करना।

७-शरीर और अन्तःकरणकी शुद्धि।

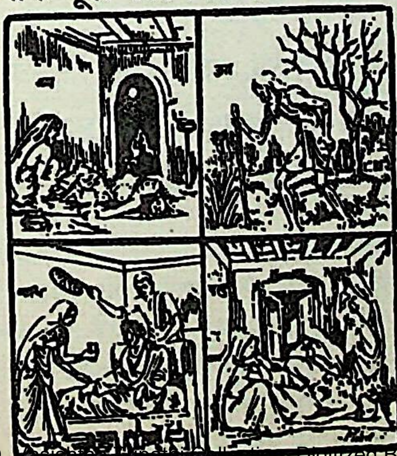
८-अपने लक्ष्यसे विचलित न होना।

९-मनको वशमें करना।

१०-इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य होना।

११-अहंकार-रहित होना।

१२-वैराग्यके लिये जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंमें दुःखरूप दोषोंके मूल कारणको देखना।



१३-आसक्ति-रहित होना।

१४-स्त्री, पुत्र, घर आदिमें तल्लीन न होना।

१५-अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें चित्तका सदा सम रहना।

१६-संसारसे उपरति और मेरेमें अव्यभिचारिणी भक्तिका होना।

१७-एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना।

१८-जन-समुदायमें प्रीतिका न होना।

१९-परमात्माकी सत्ताका नित्य-निरन्तर मनन करना।

२०-सब जगह परमात्माको ही देखना।

—इन बीस साधनोंसे शरीर 'यह' रूपसे दीखने लग जायगा। शरीरको 'यह' रूपसे (अपनेसे अलग) देखना ज्ञान है और इसके विपरीत शरीरको अपना स्वरूप देखना अज्ञान है ॥७—११॥

इस ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला तत्त्व क्या है ?

ज्ञेय-तत्त्व (परमात्मा) है। मैं उस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करूँगा, जिसको जाननेसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है।

उस ज्ञेय-तत्त्वका स्वरूप क्या है ?

वह आदि-अन्तसे रहित और परम ब्रह्म है। वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है* ॥ १२ ॥

तो भी वह कैसा है भगवन् ?

वह सब जगह ही हाथों और पैरोंवाला, सब जगह ही नेत्रों, सिरों और मुखोंवाला तथा सब जगह ही कानोंवाला है। वह सभीको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित है और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके

* उस तत्त्वको सत्-असत् नहीं कह सकते। कारण कि असत्के भाव-(सत्ता-)के बिना 'सत्' शब्दका प्रयोग नहीं होता, जब कि असत्का अत्यन्त अभाव है। अतः उस परमात्मतत्त्वको 'सत्' भी नहीं कह सकते। उस परमात्मतत्त्वका कभी अभाव होता ही नहीं, इसलिये उसको 'असत्' भी नहीं कह सकते। तात्पर्य है कि उस तत्त्वमें सत्-असत् शब्दोंकी अर्थात् वाणीकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। ऐसा वह निरपेक्ष परमात्मतत्त्व है।

विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है। वह आसक्ति-रहित है और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाला है। वह गुणोंसे रहित है और गुणोंका भोक्ता है ॥१३-१४॥

एक ही तत्त्वमें दो विरोधी लक्षण कैसे हुए ?

अनेक विरोधी भाव उस एकमें ही समा जाते हैं और विरोध उसमें रहता नहीं; क्योंकि स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर भी वही है और भीतर भी वही है तथा चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वही है अर्थात् उसके सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं। दूर-से-दूर भी वही है और नजदीक-से-नजदीक भी वही है *। वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है। इसलिये उसमें विरोध नहीं है ॥१५॥

उसमें विरोध न होनेका और कारण क्या है भगवन् ?

वह परमात्मा विभागरहित होता हुआ भी अनेक विभागवाले

---

* दूर और नजदीक तीन प्रकारसे होता है— देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत। देशको लेकर— दूर-से-दूर देशमें भी वही है और नजदीक-से-नजदीक देशमें भी वही है। कालको लेकर— पहले-से-पहले भी वही था, पीछे-से-पीछे भी वही रहेगा और अब भी वही है। वस्तुको लेकर— सम्पूर्ण वस्तुओंके पहले भी वही है, वस्तुओंके अन्तमें भी वही है और वस्तुओंके रूपमें भी वही है। इसलिये वह दूर-से-दूर और नजदीक-से-नजदीक है।

यह श्लोक इस प्रकरणका सार है। इस श्लोकके विषयको ठीक तरहसे जान लेनेपर, इसके भावका मनन करनेपर मनुष्य चाहे व्यवहारमें रहे, चाहे एकान्तमें रहे, इस भावकी जागृति उसमें स्वतः (बिना परिश्रम, उद्योग किये ही) रहेगी।

प्राणियों-(वस्तुओं-) में विभक्तकी तरह स्थित है। वह परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला, उनका भरण-पोषण करनेवाला और संहार करनेवाला है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-रूप भी वही है। उस परमात्माको जानना चाहिये ॥१६॥

उसका स्वरूप क्या है ?

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जितने ज्ञान होते हैं, वे सभी उसीसे प्रकाशित होते हैं। इसलिये वह सम्पूर्ण ज्योतियों-(ज्ञानों-)का भी ज्योति-(प्रकाशक) है। उसमें अज्ञानका अत्यन्त अभाव है। वह ज्ञानस्वरूप है। जाननेयोग्य भी वही है। वह ज्ञान-(साधन-समुदाय-) से प्राप्त करनेयोग्य है। वह सबके हृदयमें विराजमान है * ॥१७॥

और किस-किसको जानना है और जाननेका क्या माहात्म्य है भगवन् ?

क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंको जानना है, जिनका वर्णन मैंने संक्षेपसे कर दिया है। इन तीनोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरा भक्त मेरे भावको प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसको मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है ॥१८॥

भक्त तो क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंको जानकर आपसे अभिन्नताका अनुभव कर लेता है, पर जो साधक केवल ज्ञानमार्गपर ही चलना चाहता है, उसके लिये क्या जानना आवश्यक है ?

उसके लिये प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ)—इन दोनोंको अलग-अलग जानना आवश्यक है। प्रकृति और पुरुष—ये दोनों ही अनादि हैं।

* इस अध्यायके तेरहवें श्लोकमें विराट् रूपका और इस श्लोकमें ज्योतिस्वरूप—प्रकाशस्वरूप परमात्माका वर्णन है।

जब ये दोनों अनादि हैं, तो फिर ये गुण और विकार किससे पैदा हुए ?

गुण और विकार प्रकृतिसे पैदा होते हैं। इसके सिवाय कार्य, करण और कर्तापनमें भी प्रकृति ही हेतु होती है।

पुरुष किसमें हेतु होता है महाराज ?

पुरुष तो सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु होता है ॥१९-२०॥

पुरुष भोक्तापनमें हेतु कब बनता है ?

प्रकृतिमें स्थित होनेसे, उसके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही पुरुष गुणोंका भोक्ता बनता है और गुणोंका संग होनेसे ही वह ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥२१॥

उस पुरुषका स्वरूप क्या है भगवन् ?

वह पुरुष प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे 'उपद्रष्टा', उसके साथ मिलकर सम्मति देनेसे 'अनुमन्ता', अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे 'भर्ता', उसके संगसे सुख-दुःख भोगनेसे 'भोक्ता' और अपनेको उसका मालिक माननेसे 'महेश्वर' बन जाता है। परन्तु स्वरूपसे वह पुरुष 'परमात्मा' कहा जाता है। वह इस शरीरमें रहता हुआ भी वास्तवमें शरीरके सम्बन्धसे रहित ही है ॥२२॥

इस तरह प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको जाननेसे क्या होता है ?

इस तरह गुणोंके सहित प्रकृतिको और गुणरहित पुरुषको जो मनुष्य ठीक-ठीक जान लेता है, उसका सब तरहके शास्त्रविहित बर्ताव (कर्तव्यकर्म) करते हुए भी फिर जन्म नहीं होता अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है ॥२३॥

उस पुरुषको जाननेका और भी कोई उपाय है क्या ?

हाँ, है। कई मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा अपने-आपमें अपने स्वरूपको जान लेते हैं ॥२४॥

और भी कोई सरल उपाय है क्या ?

हाँ, है। जो मनुष्य ध्यानयोग, सांख्ययोग आदि साधनोंको नहीं जानते, केवल जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाके परायण हो जाते हैं, वे भी मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥२५॥

वे मृत्युको कैसे तर जाते हैं भगवन् ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके माने हुए संयोगसे ही पैदा होते हैं— ऐसा तू समझ। इसलिये क्षेत्रके साथ अपना संयोग न माननेसे वे तर जाते हैं, जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥२६॥

इस संयोगसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

दो बातें करनी चाहिये—- स्वतःसिद्ध परमात्माके सम्बन्धको पहचानना और प्रकृति-(शरीर-) से सम्बन्ध तोड़ना। विषम संसारमें जो समरूपसे स्थित है और नष्ट होनेवालोंमें जो अविनाशीरूपसे स्थित है तथा जो परम ईश्वर है— ऐसे अपने परम स्वरूपको जो देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है अर्थात् उसको वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है। सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण परमात्माके साथ एकता होनेसे शरीरके साथ तादात्म्यका

अभाव हो जाता है। फिर वह अपनेद्वारा अपनी हत्या नहीं करता अर्थात् शरीरके मरनेसे अपना मरना नहीं मानता। इसलिये वह परमगति-(परमात्मा-) को प्राप्त हो जाता है ॥२७-२८॥

आपने परमात्माके सम्बन्धको पहचाननेकी बात तो बता दी, अब यह बताइये कि प्रकृति- (शरीर-) से सम्बन्ध कैसे तोड़ें ?

सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—ऐसा ठीक बोध होनेसे वह अपनेमें कर्तृत्वके अभावका अनुभव करता है तथा जिस समय वह सम्पूर्ण प्राणियोंके अलग-अलग भावों-(शरीरों-) को एक प्रकृतिमें ही स्थित और प्रकृतिसे ही उत्पन्न देखता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध नहीं रहता ॥२९-३०॥

ऐसा क्यों होता है ?

हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि और गुणरहित होनेसे स्वयं अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी वास्तवमें न करता है औरं न लिप्त होता है अर्थात् यह कर्ता और भोक्ता नहीं है ॥३१॥

यह लिप्त कैसे नहीं होता है ?

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें कभी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही यह पुरुष सब जगह परिपूर्ण होते हुए भी किसी भी शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी लिप्त नहीं होता ॥३२॥

यह पुरुष कर्ता कैसे नहीं बनता भगवन् ?

हे भारत! जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करता है, पर उसमें प्रकाशित करनेका कर्तृत्व नहीं आता। ऐसे ही यह क्षेत्रज्ञ

सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है, पर उसमें कर्तृत्व नहीं आता, प्रत्युत प्रकाशकमात्र ही रहता है। इस तरह जो ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और



क्षेत्रज्ञके भेदको तथा प्रकृति और उसके कार्यसे अपनेको अलग अनुभव कर लेते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ॥३३-३४॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

चौदहवाँ अध्याय

भगवान् बोले—जिसको जानकर सब-के-सब मननशील मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं, सम्पूर्ण ज्ञानोंमें उस उत्तम और परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा ॥१॥

उस ज्ञानकी और क्या महिमा है भगवन् ?

उस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् मेरे समान हो गये हैं, वे महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते ॥२॥

महासर्गमें प्राणी कैसे पैदा होते हैं ?

हे भारत! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें जीव-(चेतन-) रूप गर्भ स्थापन करता हूँ, जिससे सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं। अतः हे कौन्तेय! अलग-अलग योनियोंमें जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी उत्पत्तिमें माताके स्थानपर मेरी मूल प्रकृति है और बीज-स्थापन करनेमें पिताके स्थानपर मैं हूँ* ॥३-४॥

आप सब जीवोंके पिता हैं तो फिर वे जीव बन्धनमें क्यों पड़ जाते हैं ?

हे महाबाहो! सत्त्व, रज और तम— ये तीनों गुण पैदा तो प्रकृतिसे

---

* महासर्गके आरम्भमें जीवोंका (अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार) प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध करा देना ही भगवान्के द्वारा बीज-स्थापन करना है।

होते हैं, पर इनका संग करनेसे ये अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं ॥५॥

सत्त्वगुणका क्या स्वरूप है और वह देहीको देहमें कैसे बाँधता है भगवन् ?

हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण स्वरूपसे तो निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और निर्विकार है, पर वह सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे देहीको देहमें बाँध देता है ॥६॥

रजोगुणका क्या स्वरूप है और वह देहीको कैसे बाँधता है ?

हे कुन्तीनन्दन ! तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले रजोगुणको तू राग-स्वरूप समझ । वह कर्मोंकी आसक्तिसे देहीको देहमें बाँधता है ॥ ७ ॥

तमोगुणका क्या स्वरूप है और वह देहीको कैसे बाँधता है ?

हे भरतवंशी अर्जुन! तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको मोहित करनेवाला है। वह प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा देहीको देहमें बाँधता है ॥८॥

बाँधनेसे पहले तीनों गुण क्या करते हैं भगवन् ?

हे भारत! सत्त्वगुण तो सुखमें लगाकर मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है, रजोगुण कर्ममें लगाकर मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर तथा प्रमादमें लगाकर मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है ॥९॥

तीनों गुणोंमेंसे एक-एक गुण मनुष्यपर अपना अधिकार कैसे जमाता है भगवन् ?

हे भरतवंशी अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण

बढ़ता है, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है तथा सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है ॥१०॥

बढ़े हुए सत्त्वगुणके क्या लक्षण होते हैं ?

जब इस मनुष्यशरीरमें सम्पूर्ण इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता और जाननेकी शक्ति विकसित होती है, तब जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥११॥

बढ़े हुए रजोगुणके क्या लक्षण होते हैं भगवन् ?

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! जब अन्तःकरणमें धन आदिका लोभ, क्रिया करनेकी प्रवृत्ति, भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंका आरम्भ करना, अशान्ति, स्पृहा आदिकी वृत्तियाँ बढ़ती हैं, तब जानना चाहिये कि रजोगुण बढ़ा है ॥१२॥

बढ़े हुए तमोगुणके क्या लक्षण होते हैं ?

हे कुरुनन्दन! जब इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता (समझनेकी शक्ति) नहीं रहती, किसी कार्यको करनेका मन नहीं करता, मनुष्य करनेलायक कामको नहीं करता तथा न करनेलायक काममें लग जाता है, अन्तःकरणमें मोह छाया रहता है, तब (ऐसी वृत्तियोंके बढ़नेपर) समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा है ॥१३॥

गुणोंके तात्कालिक बढ़नेपर यदि कोई मनुष्य मर जाय, तो उसकी क्या गति होती है ?

सत्त्वगुणके बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्य पुण्यात्माओं द्वारा प्राप्त करने योग्य निर्मल (उत्तम) लोकोंमें जाता है, रजोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है और तमोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला पशु, पक्षी आदि मूढ़योनियोंमें जन्म लेता है ॥१४-१५॥

इन गुणोंसे ऐसी गतियाँ क्यों होती हैं भगवन् ?

कारण कि गुणोंकी वृत्तियाँ जैसी होती हैं, वैसे ही कर्म होते हैं। इसलिये सात्त्विक कर्मका फल निर्मल होता है, राजस कर्मका फल दुःख होता है और तामस कर्मका फल अज्ञान (मूढ़ता) होता है। तात्पर्य है कि जैसे सात्त्विक आदि गुणोंकी वृत्तियोंका फल होता है, ऐसे ही सात्त्विक आदि कर्मोंका भी फल होता है ॥१६॥

वृत्तियों और कर्मोंके मूलमें क्या है ?

तीनों गुण हैं। सत्त्वगुणसे ज्ञान पैदा होता है, रजोगुणसे लोभ पैदा होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञान पैदा होता है ॥१७॥

इन तीनों गुणोंमें स्थित रहनेवालोंकी क्या गति होती है भगवन् ?

सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाले स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाते हैं; रजोगुणमें स्थित रहनेवालोंका मनुष्यलोकमें जन्म होता है और निन्दनीय तमोगुणमें स्थित रहनेवाले नरकों आदिमें जाते हैं ॥१८॥

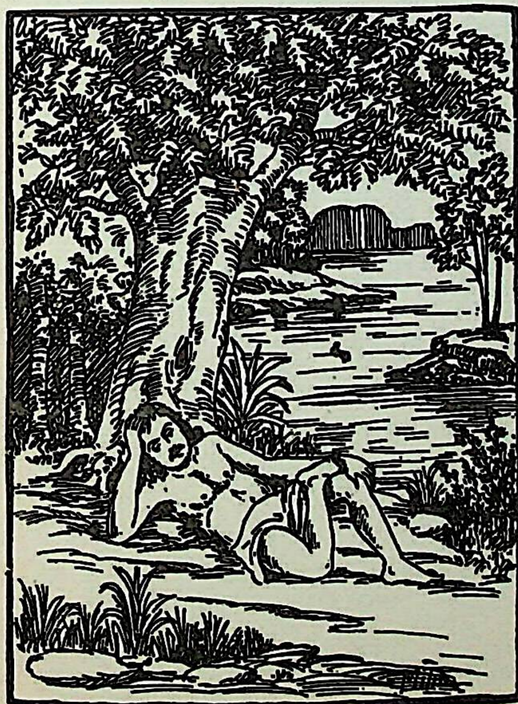
तो फिर आपको कौन प्राप्त करता है ?

जो मात्र कर्मोंके होनेमें गुणोंके सिवाय अन्यको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे अतीत अनुभव करता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है तथा वह विवेकी मनुष्य देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था-रूप दुःखोंसे मुक्त होकर अमरताका अनुभव करता है ॥१९-२०॥

अर्जुन बोले— हे प्रभो! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ मनुष्य किन लक्षणोंसे युक्त होता है ?

भगवान् बोले—हे पाण्डव! सत्त्वगुणकी 'प्रकाश', रजोगुणकी 'प्रवृत्ति' और तमोगुणकी 'मोह'—इन तीनों वृत्तियोंके आनेपर वह इनसे द्वेष नहीं करता और इनके न आनेपर इनकी इच्छा नहीं करता; जो उदासीनकी तरह रहता है, गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं— ऐसा अनुभव करते हुए अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं चेष्टारहित है।

गुणातीत मनुष्यके आचरण कैसे होते हैं भगवन् ?



उसके आचरण समतापूर्वक होते हैं। जो धैर्यवान् मनुष्य अपने स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहता है तथा सुख-दुःखमें, मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णमें, शरीर, इन्द्रियों आदिके प्रिय-अप्रियमें, नामकी निन्दा-स्तुतिमें, शरीरके मान-अपमानमें, शत्रु-मित्रके पक्षमें सम

रहता है और जो कामना-आसक्तिको लेकर कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता, वह गुणातीत कहा जाता है।

गुणातीत होनेका उपाय क्या है ?

जो मनुष्य अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगसे मेरा ही भजन करता है, वह इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है ॥२१—२६॥

भक्ति तो करे आपकी और पात्र बन जाय ब्रह्मप्राप्तिका, यह कैसे भगवन् ?

भैया! ब्रह्म, अविनाशी अमृत, सनातनधर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ अर्थात् ये सभी मेरे ही नाम हैं ॥२७॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदिका आधार (आश्रय) आप हैं तो फिर इस संसारका आधार कौन है भगवन् ?



भगवान् बोले—इस संसार-रूप वृक्षका आधार, आश्रय मैं ही हूँ। यह वृक्ष ऊपरकी ओर मूलवाला तथा नीचेकी ओर शाखावाला है। कल दिनतक भी स्थिर न रहनेके कारण इसको 'अश्वत्थ' कहते हैं। इसके आदि-

अन्तका पता न होनेसे तथा प्रवाहरूपसे नित्य रहनेके कारण इसको 'अव्यय' कहते हैं। वेदोंमें आये हुए सकाम अनुष्ठानोंका वर्णन इसके पत्ते कहे गये हैं। ऐसे संसार-वृक्षको जो यथार्थरूपसे जानता है, वही वास्तवमें तत्त्वको जाननेवाला है॥ १ ॥

यह संसारवृक्ष और कैसा है भगवन् ?

इस संसारवृक्षकी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपरके सभी लोकोंमें फैली हुई हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय इस वृक्षकी शाखाओंकी कोंपलें हैं (इन विषयोंका चिन्तन करना ही नयी-नयी कोंपलोंका निकलना है)। परन्तु इस वृक्षकी शाखाओंका मूल यह मनुष्यलोक ही है; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें किये हुए कर्मोंका फल ही सभी लोकोंमें भोगा जाता है ॥२॥

इस वृक्षका स्वरूप क्या है ?

इस संसारवृक्षका जैसा सत्य और सुन्दर-सुखदायी रूप लोगोंके देखनेमें आता है, वैसा रूप विचार करनेपर मिलता नहीं; इसका न तो आदि है, न अन्त है और न स्थिति ही है।

तो फिर इससे सम्बन्ध तोड़नेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

तादात्म्य, ममता और कामनारूपी शाखाओंके दृढ़ मूलवाले संसारवृक्षको असंगता-रूप शस्त्रके द्वारा काटकर उस परमपद परमात्माकी खोज करनी चाहिये।

खोज न कर सके तो क्या करना चाहिये भगवन् ?

जिसको प्राप्त होनेपर मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और

जिससे अनादिकालसे यह सृष्टि फैली हुई है, उस आदिपुरुष परमात्माके शरण हो जाना चाहिये ॥३-४॥

शरण होनेसे क्या होगा ?

शरण होनेवाले मनुष्य मान और मोहसे रहित हो जाते हैं, आसक्ति न रहनेके कारण उनमें ममता आदि दोष नहीं रहते, वे नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही स्थित रहते हैं, वे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जाते हैं, वे सुख-दुःखरूप द्वन्द्वोंसे रहित होकर अविनाशी पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥५॥

वह अविनाशी पद कैसा है भगवन् ?

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते तथा जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, वह अविनाशी पद ही मेरा परमधाम है ॥६॥

लौटकर संसारमें क्यों नहीं आते ?

इस शरीरमें जीव बना हुआ यह आत्मा (जीवात्मा) सदासे मेरा ही अंश है, इसलिये मेरेको प्राप्त होनेपर यह फिर लौटकर संसारमें नहीं आता। परन्तु इससे भूल यह होती है कि यह प्रकृतिके कार्य इन्द्रियों और मनको अपना मान लेता है ॥७॥

इन्द्रियों आदिको अपना माननेसे क्या होता है ?

वायु जैसे गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाती है, ऐसे ही शरीर, इन्द्रियों आदिका मालिक बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीरको छोड़ता है, वहाँसे मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें चला जाता है अर्थात् मरता-जन्मता रहता है ॥८॥

वह वहाँ क्या करता है भगवन् ?

वहाँ वह मनका आश्रय लेकर श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका— इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंका रागपूर्वक सेवन करता है ॥९॥

रागपूर्वक विषयोंका सेवन करनेसे क्या होता है ?

गुणोंसे युक्त होकर जन्मते-मरते और भोगोंको भोगते समय भी यह जीवात्मा स्वरूपसे निर्लिप्त ही रहता है—ऐसा रागपूर्वक विषयोंका सेवन करनेवाले मूढ़ मनुष्य नहीं जानते ।

तो फिर कौन जानता है ?

ज्ञानरूपी नेत्रवाले विवेकी मनुष्य ही जानते हैं ॥१०॥

ज्ञान-नेत्र किसके खुलते हैं और किसके नहीं खुलते भगवन् ?

जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लिया है अर्थात् नित्यप्राप्तको महत्त्व दिया है, ऐसे यत्नशील योगीलोग तो अपने-आपमें स्थित तत्त्वको जानते हैं अर्थात् उनके तो ज्ञाननेत्र खुलते हैं; पर जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अविवेकी मनुष्य यत्न करनेपर भी इस तत्त्वको नहीं जानते अर्थात् उनके ज्ञाननेत्र नहीं खुलते ॥११॥

अपने-आपमें स्थित तत्त्व क्या है ?

मैं ही हूँ। सूर्यमें आया हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमामें है तथा जो तेज अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान। तात्पर्य है कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मैं ही तेजरूपसे स्थित होकर सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता हूँ ॥१२॥

आप और क्या करते हैं भगवन् ?

मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करता हूँ और मैं ही रसमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ॥ १३ ॥

और आप क्या काम करते हैं ?

प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला मैं ही प्राण-अपानसे युक्त वैश्वानर (जठराग्नि) बनकर प्राणियोंके द्वारा खाये गये चार प्रकारसे (भोज्य, पेय, चोष्य और लेह्य) अन्नको पचाता हूँ॥ १४ ॥

और आपकी क्या विलक्षणता है ?

मैं ही सबके हृदयमें रहता हूँ। मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ। वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला और वेदोंको जाननेवाला भी मैं हूँ॥ १५ ॥

आप जिनके हृदयमें विराजमान हैं, वे सब कौन हैं ?

इस मनुष्यलोकमें क्षर (विनाशी) और अक्षर (अविनाशी)— ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर विनाशी और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है॥ १६ ॥

क्षर और अक्षरके सिवाय और भी कोई है ?

हाँ, क्षर और अक्षरसे अन्य उत्तम पुरुष है, जो संसारमें परमात्मा नामसे कहा गया है और जो त्रिलोकीका भरण-पोषण करनेवाला अविनाशी ईश्वर है॥ १७ ॥

उत्तम पुरुष तो अन्य है, पर आप कौन हैं भगवन् ?

भैया ! वह उत्तम पुरुष मैं ही हूँ। मैं क्षरसे तो अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें मैं पुरुषोत्तम

नामसे प्रसिद्ध हूँ॥ १८॥

आप पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हैं, तो इससे मनुष्यको क्या लाभ है भगवन् ?

हे भारत ! जो मोहरहित भक्त मेरेको इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। फिर वह सब प्रकारसे केवल मेरा ही भजन करता है अर्थात् मेरेमें ही लगा रहता है॥ १९॥

जब ऐसी ही बात है तो सब आपमें ही क्यों नहीं लग जाते भगवन् ?

हे निष्पाप अर्जुन ! मैंने जो बात तुम्हारेसे कही है, यह अत्यन्त गोपनीय बात है। इसको जानकर मेरा भक्त ज्ञात-ज्ञातव्य, कृतकृत्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है॥ २०॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सोलहवाँ अध्याय

उस अत्यन्त गोपनीय बातका अधिकारी कौन होता है भगवन् ?

दैवी सम्पत्तिवाला होता है* ।

दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं ?

भगवान् बोले— वे इस प्रकार हैं—

१-मेरे ही दृढ़ भरोसे अभय रहना।

२-अन्तःकरणमें मेरेको प्राप्त करनेका एक दृढ़ निश्चय होना।

३-मेरेको तत्त्वसे जाननेके लिये हरेक परिस्थितिमें सम रहना।

४-सात्त्विक दान देना।

५-इन्द्रियोंको वशमें करना।

६-अपने कर्तव्यका पालन करना।

७-शास्त्रोंके सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारना।

८-अपने कर्तव्यका पालन करते समय जो कष्ट आये, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना।

९-तन-मन-वाणीकी सरलता।

१०-तन-मन-वाणीसे किसी भी प्राणीको कभी किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचाना।

---

* 'देव' नाम परमात्माका है। उस परमात्माकी जो सम्पत्ति है, गुण हैं, वे 'दैवी सम्पत्ति' कहलाते हैं अर्थात् जो साधन परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु (निमित्त) बनते हैं, वे दैवी सम्पत्ति कहलाते हैं।

११-जैसा देखा, सुना और समझा, वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना।

१२-मेरा स्वरूप समझकर किसीपर कभी क्रोध न करना।

१३-सांसारिक कामनाओंका त्याग करना।

१४-अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचल न होना।

१५-चुगली न करना।

१६-सम्पूर्ण प्राणियोंपर दयाका भाव होना।

१७-सांसारिक विषयोंमें न ललचाना।

१८-हृदयका कोमल होना।

१९-अकर्तव्य करनेमें लज्जा होना।

२०-चपलता (उतावलापन) न होना।

२१-शरीर और वाणीमें तेज (प्रभाव) होना।

२२-अपनेमें दण्ड देनेकी सामर्थ्य होनेपर भी अपराधीके अपराधको माफ कर देना।

२३-हरेक परिस्थितिमें धैर्य रखना।

२४-शरीरको शुद्ध रखना।

२५-बदला लेनेकी भावना न होना।

२६-अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना।

हे भरतवंशी अर्जुन ! ये सभी दैवी सम्पत्तिको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं अर्थात् इन लक्षणोंवालेको मेरी भक्तिका अधिकारी मानना चाहिये*॥ १—३ ॥

* यहाँ यह शंका होती है कि जो ऐसे लक्षणोंवाले हैं, वे तो भक्तिके अधिकारी हैं, पर जिनमें ऐसे लक्षण नहीं हैं वे दुराचारी मनुष्य तो भक्तिके अधिकारी हो ही नहीं सकते ? बात तो ठीक ही है; परन्तु यदि कोई दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे भगवान्‌में लग जाता है, तो वह ही शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है अर्थात् उसमें भगवत्कृपासे दैवी सम्पत्तिके लक्षण शीघ्र आ जाते हैं (गीता ९। ३०-३१)।

अनधिकारी कौन होता है भगवन् ?

आसुरी सम्पत्तिवाला * ।

आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं ?

वे इस प्रकार हैं—

१-दम्भ (दिखावटीपन) करना ।

२-घमण्ड करना अर्थात् ममतावाली चीजोंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करना ।

३-अहंतावाली चीजोंको लेकर अभिमान करना ।

४-क्रोध करना ।

५-मन, वाणी, बर्ताव आदिमें कठोरता रखना ।

६-सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके ज्ञान (विवेक) को महत्त्व न देना ।

हे पृथानन्दन ! ये सभी आसुरी सम्पत्तिको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं अर्थात् इन लक्षणोंवाला मनुष्य प्रायः मेरी भक्तिका अधिकारी नहीं होता ॥ ४ ॥

इस दैवी और आसुरी सम्पत्तिका क्या फल होता है भगवन् ?

दैवी सम्पत्ति मुक्ति देनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली होती है । परन्तु हे पाण्डव ! तुम्हें शोक (चिन्ता) नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम दैवी सम्पत्तिको प्राप्त हुए हो ॥ ५ ॥

---

* 'असु' नाम प्राणोंका है । उन प्राणोंमें ही जो रमण करना चाहते हैं, प्राणोंको ही रखना चाहते हैं, उनको 'असुर' कहते हैं । तात्पर्य है कि शरीरके साथ एकता मानकर 'मैं कभी मरूँ नहीं, सदा जीता रहूँ और सुख भोगता रहूँ'—ऐसी इच्छावाले मनुष्य 'असुर' हैं । उन असुरोंकी जो सम्पत्ति (लक्षण) है, वह आसुरी सम्पत्ति कहलाती है ।

आसुरी सम्पत्ति बन्धनकारक कैसे होती है ?

इस लोकमें दो तरहके प्राणियोंकी सृष्टि है—दैवी और आसुरी। दैवी सम्पत्तिको तो मैंने विस्तारसे कह दिया, अब हे पार्थ! तुम आसुरी सम्पत्तिको विस्तारसे सुनो। आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये—इसको नहीं जानते तथा उनमें न तो शौचाचार (बाह्य शुद्धि) होता है, न सदाचार (श्रेष्ठ आचरण) होता है और न सत्य-पालन ही होता है ॥६-७॥

उनमें शौचाचार आदि क्यों नहीं होते हैं भगवन् ?

उनकी दृष्टि ही विपरीत होती है। वे यही कहते हैं कि यह संसार असत्य है अर्थात् इसमें कोई भी बात (शास्त्र, धर्म आदि) सत्य नहीं है। इस संसारमें धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदिकी कोई मर्यादा नहीं है। इस संसारको रचनेवाला कोई ईश्वर नहीं है; किन्तु स्त्रीको पुरुषकी और पुरुषको स्त्रीकी इच्छा हुई तो दोनोंके संयोगसे यह संसार पैदा हो गया। इसलिये इस संसारकी उत्पत्तिका हेतु काम ही है, इसके सिवाय और कोई कारण नहीं है ॥८॥

उन आसुरी सम्पत्तिवालोंके कर्म कैसे होते हैं ?

उपर्युक्त नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेनेवाले वे लोग अपने नित्य स्वरूप-(आत्मा-) को नहीं मानते, उनकी बुद्धि तुच्छ होती है, उनके कर्म अत्यन्त उग्र (भयांनक) होते हैं, वे जगत्‌के शत्रु होते हैं। ऐसे मनुष्योंकी सामर्थ्य दूसरोंका नाश करनेके लिये ही होती है ॥९॥

नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे क्या करते हैं ?

वे कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले तथा अपवित्र नियमोंको धारण करनेवाले मनुष्य मोहके कारण अनेक दुराग्रहोंको पकड़कर संसारमें विचरते रहते हैं ॥१०॥

उनके भाव कैसे होते हैं ?

वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली बड़ी-बड़ी चिन्ताओंका आश्रय लेते हैं। वे पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले और 'जो कुछ है, वह इतना (सुख भोगना और संग्रह करना) ही है'—ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं ॥११॥

वे किस उद्देश्यको लेकर चलते हैं भगवन् ?

सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए वे मनुष्य काम और क्रोधके परायण होकर केवल भोग भोगनेके उद्देश्यसे ही अन्याय-पूर्वक धनका संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं ॥१२॥



उनके मनोरथ कैसे होते हैं ?

आज इतना धन तो हमने प्राप्त कर लिया और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास है ही,

इतना धन और हो जायगा ॥१३॥

उनके और कैसे मनोरथ होते हैं ?

उस शत्रुको तो हमने मार दिया और उन दूसरे शत्रुओंको भी हम मार डालेंगे। हम सर्वसमर्थ हैं, सिद्ध हैं, बलवान् हैं, सुखी हैं और भोगोंको भोगनेवाले हैं। हम बड़े धनवान् हैं। बहुत-से मनुष्य हमारा साथ देनेवाले हैं। हमारे समान दूसरा कौन हो सकता है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और फिर मौज करेंगे। इस तरह वे अज्ञानसे मोहित होकर मनोरथ करते रहते हैं ॥१४-१५॥

ऐसे मनुष्योंकी मरनेपर क्या गति होती है भगवन् ?

तरह-तरहके भ्रमोंमें पड़े हुए,मोहजालमें उलझे हुए तथा पदार्थोंके संग्रह और भोगमें आसक्त हुए वे मनुष्य भयंकर नरकोंमें गिरते हैं ॥१६॥

भोगोंमें आसक्त हुए उन आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्योंका पतन करनेवाले भाव कौन-से होते हैं ?

वे अपनेको ही पूज्य (श्रेष्ठ) माननेवाले, अकड़ रखनेवाले तथा धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले होते हैं।

ऐसे लोग शुभ कर्म भी तो कर सकते हैं भगवन् ?

हाँ, वे यज्ञ आदि शुभ कर्म करते तो हैं, पर करते हैं दम्भ (दिखावटीपन) और अविधिपूर्वक तथा नाममात्रके लिये ॥१७॥

वे ऐसा क्यों करते हैं ?

कारण कि वे अहंकार, हठ, घमण्ड, काम और क्रोधका आश्रय लिये हुए रहते हैं।

उनके और क्या भाव होते हैं भगवन् ?

वे मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरोंमें रहनेवाले मुझ अन्तर्यामीके साथ द्वेष करते हैं तथा मेरे और दूसरोंके गुणोंमें दोष-दृष्टि रखते हैं ॥१८॥

ऐसे आसुर भावोंका क्या परिणाम होता है भगवन् ?

उन द्वेष करनेवाले, क्रूर स्वभाववाले और संसारमें महान् नीच और अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार कुत्ता, गधा, बाघ, कौआ, उल्लू, गीध, साँप, बिच्छू आदि आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ ॥१९॥

फिर क्या होता है ?

हे कुन्तीनन्दन! वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं और फिर उससे भी अधिक अधम



गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं ॥ २० ॥

उनका अधम योनिमें और अधम गति-(नरक-) में जानेका प्रधान कारण क्या है भगवन् ?

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे मनुष्यका पतन करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये ॥२१॥

इनका त्याग करनेसे क्या होगा ?

हे कौन्तेय! जो मनुष्य नरकके इन तीनों द्वारोंसे रहित होकर अपने कल्याणका आचरण करता है अर्थात् जो शास्त्रनिषिद्ध आचरणका त्याग करके केवल अपने कल्याणके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक विहित आचरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥२२॥

परमगतिकी प्राप्ति किसको नहीं होती ?

जो शास्त्रविधिका त्याग करके अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है अर्थात् अपने मनसे जिस कामको अच्छा समझता है, वह करता है और जिसको अच्छा नहीं समझता, वह नहीं करता, ऐसे मनुष्यको न तो सिद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि) प्राप्त होती है, न सुख प्राप्त होता है और न परमगति ही प्राप्त होती है ॥२३॥

अच्छे और बुरे कामकी पहचान कैसे हो ?

कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तुझे शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्यकर्मको ही करना चाहिये अर्थात् शास्त्रको सामने रखकर ही हरेक काम करना चाहिये ॥ २४ ॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले— हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र-विधिको न जानकर श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है अथवा राजसी या तामसी ? ॥१॥

भगवान् बोले—मनुष्योंकी स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—ऐसे तीन प्रकारकी होती है ॥ २ ॥

वह स्वभावजा श्रद्धा तीन प्रकारकी क्यों होती है ?

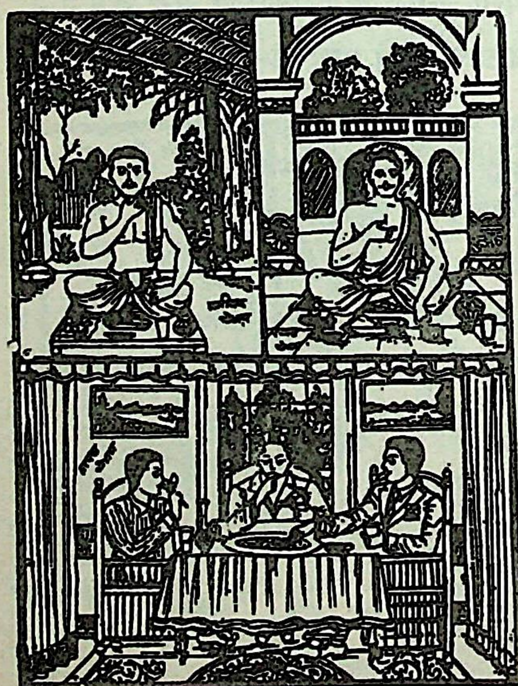


हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। इसलिये जो जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप है अर्थात् वैसी ही उसकी निष्ठा (स्थिति) है ।।३।।

उस श्रद्धा-(निष्ठा-) की पहचान कैसे हो ?

सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं। राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंका तथा तामस मनुष्य भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं ।।४।।

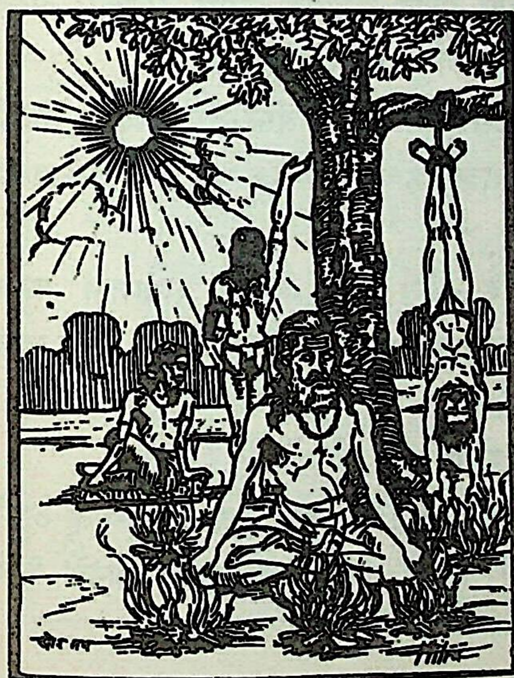
अश्रद्धालु मनुष्योंकी पहचान क्या है भगवन् ?



अश्रद्धालु मनुष्य दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति और हठसे युक्त होकर शास्त्रविधिसे रहित घोर तप करते हैं और अपने पाञ्चभौतिक शरीरको तथा (मेरेसे विरुद्ध चल करके) अन्तःकरणमें स्थित मेरेको भी कष्ट देते हैं। ऐसे अज्ञानी मनुष्योंको तू

आसुर स्वभाववाले समझ ॥५-६॥

अभीतक आपने पूजन और तपसे श्रद्धालु और अश्रद्धालु मनुष्योंकी पहचान बतायी; परन्तु जो पूजन, तप आदि नहीं करते, उनकी पहचान किससे होगी ?



भोजनकी रुचिसे उनकी पहचान हो जायगी; क्योंकि सबको आहार भी तीन तरहका प्रिय होता है। ऐसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन तरहके प्रिय होते हैं, उनके इस भेदको तू सुन ॥७॥

सात्त्विक मनुष्यकी रुचि किस आहारमें होती है ?

आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नताको बढ़ानेवाले, स्थिर रहनेवाले, हृदयको बल देनेवाले, रसयुक्त और चिकने— ऐसे भोजनके पदार्थ सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥८॥

राजस मनुष्यकी रुचि किस आहारमें होती है ?

अधिक कड़वे, खट्टे, नमकवाले, गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक

भोजनके पदार्थ राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगको देनेवाले हैं ॥९॥

तामस मनुष्यकी रुचि किस आहारमें होती है ?

अधपके, रसरहित, दुर्गन्धित (मदिरा, प्याज, लहसुन आदि) बासी, उच्छिष्ट (जूठें) और महान् अपवित्र (मांस, मछली, अण्डा आदि) भोजनके पदार्थ तामस मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥१०॥

अभी आपने यज्ञ, तप और दानके भी तीन-तीन भेद सुननेकी आज्ञा दी थी * । अतः अब यह बताइये कि यज्ञ तीन प्रकारका कैसे होता है ?

यज्ञ करना कर्तव्य है—इस तरह मनको समाधान करके फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है ॥११॥

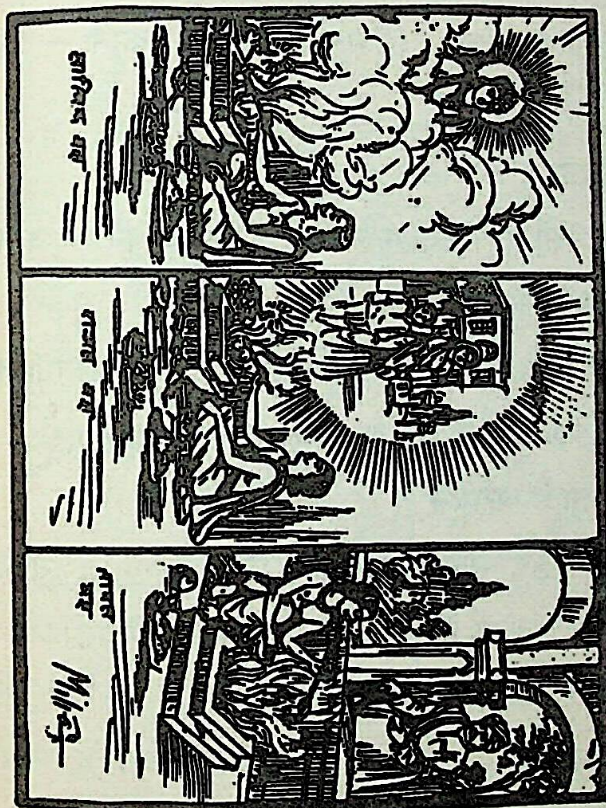
राजस यज्ञ कैसे होता है भगवन् ?

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ फलकी इच्छासे अर्थात् अपने स्वार्थके लिये किया जाय अथवा केवल लोगोंको दिखानेके लिये किया जाय, उसको तू राजस समझ ॥१२॥

तामस यज्ञ कैसे होता है ?

जो यज्ञ शास्त्रविधिसे हीन, अन्न-दानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना

* पहले यजन-पूजन और भोजनके द्वारा जो श्रद्धाकी पहचान बतायी, उससे शास्त्रविधिका अज्ञतापूर्वक त्याग करनेवालोंकी तो पहचान हो जाती है, पर जो मनुष्य शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञ आदि शुभ कर्म करते हैं, उनकी पहचान कैसे हो— यह बतानेके लिये भगवान्ने यज्ञ, तप और दानके तीन-तीन भेदोंको सुननेकी आज्ञा दी है ।



दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥१३॥

भगवन्! अब यह बताइये कि तप कितने प्रकारका होता है ?

तप तीन प्रकारका होता है— शरीरका, वाणीका और मनका। देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषोंका पूजन करना; जल, मिट्टी आदिसे शरीरको पवित्र रखना, शारीरिक क्रियाओंको सीधी-सरल रखना अर्थात् ऐंठ-अकड़ न रखना; ब्रह्मचर्यका पालन करना और शरीरसे किसीको भी किसी तरहका कष्ट न देना— यह शरीरका तप है ॥१४॥

वाणीका तप कैसे होता है ?

उद्वेग न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वचन बोलना; स्वाध्याय करना और अभ्यास (नाम-जप आदि) करना—यह वाणीका तप है ॥१५॥

मनका तप कैसे होता है ?

मनकी प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मनका निग्रह और भावोंकी शुद्धि— यह मनका तप है ॥१६॥

उपर्युक्त तीन प्रकारका तप यदि परम श्रद्धासे युक्त फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा किया जाता है, तो वह तप सात्त्विक कहलाता है ॥१७॥

राजस तप क्या होता है भगवन् ?

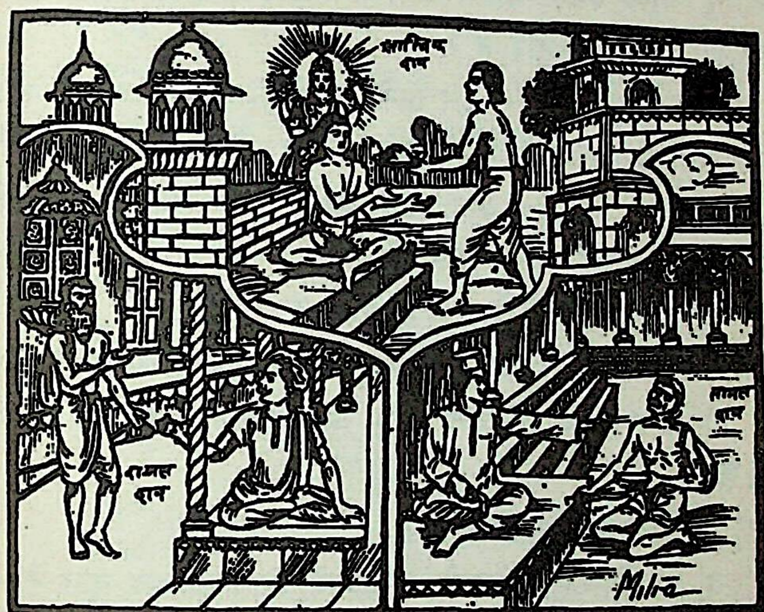
जो तप अपने सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा दूसरोंको दिखानेके भावसे किया जाता है, वह इस लोकमें अनिश्चित और नाशवान् फल देनेवाला तप राजस होता है ॥१८॥

तामस तप क्या होता है ?

जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे अपनेको पीड़ा देकर अथवा दूसरोंको कष्ट देनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस होता है ॥१९॥

भगवन्! अब यह बताइये कि दान तीन प्रकारका कैसे होता है ?

दान देना कर्तव्य है— इस भावसे जो दान प्रत्युपकारकी भावनासे रहित होकर देश, काल और सुपात्रके प्राप्त होनेपर दिया जाता है, वह



दान सात्त्विक होता है ॥२०॥

राजस दान क्या होता है ?

जो दान प्रत्युपकार पानेके लिये अथवा फलकी इच्छा रखकर 'देनां पड़ रहा है'—ऐसे दुःखपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस होता है ॥२१॥

तामस दान क्या होता है ?

जो दान बिना सत्कारके तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और कालमें कुपात्रको दिया जाता है, वह दान तामस होता है ॥ २२ ॥

श्रद्धालु मनुष्य शास्त्रविहित यज्ञ, तप और दानकी क्रियाओंको कैसे आरम्भ करे महाराज ?

ॐ, तत् और सत्— इन तीनों नामोंसे जिस परमात्माका निर्देश किया गया है, उसी परमात्माने सृष्टिके आरम्भमें वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञोंकी रचना की है। अतः परमात्माका नाम लेकर ही यज्ञादि क्रियाओंको आरम्भ करना चाहिये ॥२३॥

'ॐ' का प्रयोग कहाँ होता है भगवन् ?

वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले मनुष्योंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥२४॥

'तत्' का प्रयोग कहाँ होता है ?

'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है— ऐसा मानकर मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंके द्वारा फलकी इच्छासे रहित होकर अनेक प्रकारकी यज्ञ, तप और दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं ॥२५॥

'सत्' का प्रयोग कहाँ होता है ?

हे पार्थ! परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग सत्तामात्रमें और श्रेष्ठ भावमें किया जाता है। प्रशंसनीय (श्रेष्ठ) कर्मके साथ भी 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है। यज्ञ , तप और दानमें मनुष्योंकी जो स्थिति (निष्ठा, श्रद्धा) है, वह भी 'सत्' कही जाती है। कहाँतक कहा जाय, उस परमात्माके लिये जो कर्म किया जाता है, वह सब 'सत्' कहा जाता है ॥२६-२७॥

'असत्' कर्म कौन-से कहे जाते हैं भगवन् ?

हे पार्थ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा और भी जो कुछ किया जाय, वह सब 'असत्' कहा जाता है। उनका फल न यहाँ होता है और न मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता ॥२८॥



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास (सांख्ययोग) और त्याग (कर्मयोग) का तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ ॥१॥

भगवान् बोले—मैं संन्यास और त्यागके विषयमें अन्य दार्शनिकोंके चार मत बताता हूँ।

वे चार मत कौन-से हैं महाराज ?

१-कई विद्वान् काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास कहते हैं।

२-कई सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं।

३-कई विद्वान् कहते हैं कि कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये और

४-कई कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥२-३॥

ये तो दार्शनिकोंके चार मत हुए, पर आपका इस विषयमें क्या मत है भगवन् ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग— इन दोनोंमेंसे पहले तू त्यागके विषयमें मेरा मत सुन; क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको यदि न करते हों तो जरूर करना चाहिये। कारण कि उनमेंसे एक-एक कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाला है ॥४-५॥

बस, इतने ही कर्म करने हैं क्या ?

हे पार्थ! अभी कहे हुए यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा इनके सिवाय दूसरे भी शास्त्रविहित कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करना चाहिये—यही मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है ॥६॥

जो तीन तरहका त्याग कहा गया है, उसका क्या स्वरूप है भगवन् ?

नियत कर्मोंका त्याग करना किसीके लिये भी उचित नहीं है *। मोहके कारण इनका त्याग करना तामस त्याग है ॥७॥

राजस त्यागका क्या स्वरूप है ?

कर्तव्यकर्म करनेमें केवल दुःख ही है— ऐसा समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग करना राजस त्याग है। ऐसा त्याग करनेवालेको त्यागका फल—शान्ति नहीं मिलती ॥८॥

सात्त्विक त्यागका क्या स्वरूप है ?

हे अर्जुन! नियत कर्म करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है—ऐसा समझकर कर्मोंकी आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके नियत

---

* विहित कर्म और नियत कर्ममें क्या अन्तर है? शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी 'विहित कर्म' कहलाते हैं। उन सम्पूर्ण विहित कर्मोंका पालन एक व्यक्ति कर ही नहीं सकता; क्योंकि शास्त्रोंमें सम्पूर्ण वारों तथा तिथियोंके व्रतका विधान आता है। यदि एक ही मनुष्य सब वारोंमें या सब तिथियोंमें व्रत करेगा, तो फिर वह भोजन कब करेगा? इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके लिये सभी विहित कर्म लागू नहीं होते। परन्तु उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो कर्तव्य आवश्यक होता है, उसके लिये वह 'नियत कर्म' है। जैसे-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— चारों वर्णोंमें जिस-जिस वर्णके लिये जीविका और शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी जितने भी नियम हैं, उस-उस वर्णके लिये वे सभी 'नियत कर्म' हैं।

कर्मोंको करना सात्त्विक त्याग है ॥९॥

त्याग करनेवाला मनुष्य कैसा होता है भगवन् ?

वह सकाम और निषिद्ध कर्मोंका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं और शास्त्र-नियत कर्तव्य-कर्मोंका आचरण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं। ऐसा बुद्धिमान् त्यागी मनुष्य सन्देहरहित होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥१०॥

कर्मोंको करनेमें राग न हो और छोड़नेमें द्वेष न हो— इतनी झंझट करें ही क्यों ? कर्मोंका सर्वथा त्याग ही कर दें, तो ?

देहधारी मनुष्यके द्वारा कर्मोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता। इसलिये जो कर्मोंके फलका त्याग करनेवाला है, वही त्यागी कहलाता है ॥११॥

कर्मफल कितने तरहका होता है भगवन् ?

कर्मफल तीन तरहका होता है—१. इष्ट— जिस परिस्थितिको मनुष्य चाहता है, २. अनिष्ट— जिस परिस्थितिको मनुष्य नहीं चाहता, और ३. मिश्र— जिसमें कुछ भाग इष्टका और कुछ भाग अनिष्टका होता है। ये तीनों तरहके कर्मफल फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंको मरनेके बाद भी होते हैं; परन्तु फलेच्छाका त्याग करनेवालोंको कहीं भी नहीं होते।

जिस कर्मका फल तीन तरहका होता है, उस कर्मके होनेमें कौन हेतु बनता है ?

हे महाबाहो! कर्मोंका अन्त करनेवाले सांख्य-सिद्धान्तमें सम्पूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें पाँच हेतु बताये हैं, इनको तू मेरेसे समझ ॥१२-१३॥

वे हेतु कौन-से हैं भगवन् ?

शरीर, कर्ता, तरह-तरहके करण और उनकी विविध प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा संस्कार—ये पाँच हेतु हैं। मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये पाँचों हेतु होते हैं ॥१४-१५॥

कर्मोंकि होनेमें ये पाँच हेतु बतानेका क्या तात्पर्य है ?

कर्म तो शरीर, वाणी और मनसे ही होते हैं, आत्मामें कर्तापन नहीं है। परन्तु जो कर्मोंकि विषयमें आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है ॥१६॥

आत्माको अकर्ता माननेसे क्या होता है भगवन् ?

जिसमें 'मैं करता हूँ'— ऐसा अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्मोंकि फलमें लिप्त नहीं है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है ॥१७॥

जब कर्मोंकि साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है तो फिर कर्म किसकी प्रेरणासे होते हैं और कर्मोंमें हेतु कौन बनता है ?

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता— इन तीनोंसे कर्मप्रेरणा होती है तथा करण, कर्म और कर्ता—इन तीनोंसे कर्मसंग्रह होता है ॥ १८ ॥

कर्मप्रेरणा और कर्मसंग्रहमें मुख्य कौन हैं और उनके खास-खास भेद क्या हैं भगवन् ?

गुणोंके सम्बन्धसे प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना करनेवाले शास्त्रमें गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ताके तीन-तीन मुख्य भेद कहे गये हैं, उनको भी तू ठीक तरहसे सुन ॥१९॥

ज्ञानके तीन भेदोंमेंसे सात्त्विक ज्ञान कौन-सा है ?

जिस ज्ञानसे साधक सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक अविनाशी सत्ताको देखता है, वह ज्ञान सात्त्विक है ॥२०॥

राजस ज्ञान कौन-सा है भगवन् ?

जिस ज्ञानसे मनुष्य अलग-अलग सम्पूर्ण प्राणियोंमें भाव (सत्ता) - को अलग-अलग देखता है, वह ज्ञान राजस है ॥२१॥

तामस ज्ञान कौन-सा है ?

जो उत्पन्न होनेवाले शरीरमें ही पूर्णकी तरह आसक्त है तथा जो युक्तिसंगत नहीं है, तात्त्विक ज्ञानसे रहित है और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस है ॥२२॥

तीन तरहके कर्मोंमें सात्त्विक कर्म कौन-सा है भगवन् ?

जो नियत कर्म फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा राग-द्वेष और कर्तृत्व-अभिमानसे रहित होकर किया जाय, वह सात्त्विक है ॥२३॥

राजस कर्म कौन-सा है ?

जो कर्म भोगोंकी इच्छावाले मनुष्यके द्वारा अहंकार अथवा परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह राजस है ॥२४॥

तामस कर्म कौन-सा है ?

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी सामर्थ्यको न देखकर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस है ॥२५॥

तीन तरहके कर्ताओंमें सात्त्विक कर्ता कौन-सा है भगवन् ?

जो कर्ता आसक्तिरहित, अहंकाररहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहता है, वह सात्त्विक है ॥२६॥

राजस कर्ता कौन-सा है ?

जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छावाला, लोभी, हिंसाके स्वभाववाला, अशुद्ध और हर्ष-शोकसे युक्त है, वह राजस है ॥२७॥

तामस कर्ता कौन-सा है ?

जो कर्ता असावधान, कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षासे रहित, ऐंठ-अकड़वाला, जिद्दी, कृतघ्नी, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री (थोड़े समयमें होनेवाले काममें भी ज्यादा समय लगा देनेवाला) है, वह तामस है ॥२८॥

ज्ञान, कर्म और कर्ताके तीन-तीन भेद तो आपने बता दिये, अब इनके सिवाय और किन-किनके भेदोंको जाननेकी आवश्यकता है ?

हे धनञ्जय! कर्म-संग्राहक करणोंमें बुद्धि और धृति (धारणा शक्ति) मुख्य है, जिनके भेदोंको जाननेकी बहुत आवश्यकता है। अतः अब तू गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन प्रकारके भेद अलग-अलग रूपसे सुन, जिनको मैं पूर्णरूपसे कहूँगा। हे पृथानन्दन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विकी है ॥२९-३०॥

राजसी बुद्धि क्या है ?

हे पार्थ! जो बुद्धि धर्म और अधर्मको, कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानती, वह राजसी है ॥३१॥

तामसी बुद्धि क्या है ?

हे पृथानन्दन! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म तथा सब बातोंको उलटा ही मान लेती है, वह तामसी है ॥३२॥

सात्त्विकी धृति कौन-सी होती है भगवन् ?

हे पार्थ ! समतासे युक्त जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥

राजसी धृति कौन-सी होती है ?

हे पृथानन्दन ! फलको चाहनेवाला मनुष्य जिस धृतिसे धर्म, अर्थ, और काम- (भोग-) को अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है ॥३४॥

तामसी धृति कौन-सी होती है ?

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिसे निद्रा, भय, शोक (चिन्ता), विषाद (दुःख) और मद (घमण्ड) को भी नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी है ॥३५॥

तामस पुरुष निद्रा आदिको क्यों नहीं छोड़ता ?

इनको सुख मिलनेके कारण ही नहीं छोड़ता ।

वह सुख क्या है भगवन् ?

हे भरतर्षभ ! उस सुखके भी तीन भेद तू मेरेसे सुन । जिस सुखमें अभ्याससे रमण होता है और जिससे दुःखोंका अन्त हो जाता है, ऐसा वह परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला जो सुख सांसारिक आसक्तिके कारण आरम्भमें जहरकी तरह और परिणाममें अमृतकी तरह होता है, वह सात्त्विक सुख है ॥३६-३७॥

राजस सुख कौन-सा होता है ?

जो सुख इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके सम्बन्धसे आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें जहरकी तरह होता है, वह राजस सुख है ॥३८॥

तामस सुख कौन-सा होता है ?

निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ जो सुख आरम्भमें और परिणाममें स्वयंको मोहित करनेवाला होता है, वह तामस सुख है ॥३९॥

भगवन् ! अब यह बताइये कि तीनों गुणोंको लेकर और किन-किन वस्तुओंके तीन-तीन भेद होते हैं ?

भैया ! पृथ्वीमें, स्वर्गमें, देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई भी वस्तु, पदार्थ आदि नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो अर्थात् सम्पूर्ण त्रिलोकी तीनों गुणोंमें ही है ॥४०॥

इन गुणोंसे छूटनेका उपाय क्या है भगवन् ?

हे परंतप ! इस संसारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इन चारों वर्णोंका विभाग मनुष्योंके स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार ही किया गया है। अतः अपने-अपने वर्णके अनुसार नियत कर्म करना ही गुणोंसे छूटनेका उपाय है ॥४१॥

ब्राह्मणके कौन-से कर्म हैं भगवन् ?

१. मनका निग्रह करना, २. इन्द्रियोंको वशमें करना, ३. धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना, ४. बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, ५. दूसरोंके अपराधको क्षमा करना, ६. शरीर, मन आदिमें सरलता रखना, ७. वेद, शास्त्र आदिका ज्ञान सम्पादन करना, ८. यज्ञविधिको अनुभवमें लाना और ९. परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिक-भाव रखना—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥

क्षत्रियके कौन-से कर्म हैं ?

१. शूरवीरता, २. तेज, ३. धैर्य, ४. प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता, ५. युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, ६. दान देना और ७. शासन करनेका भाव— ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ।।४३।।

वैश्यके कौन-से कर्म हैं ?

१. खेती करना, २. गायोंकी रक्षा करना और ३. शुद्ध व्यापार करना— ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।

शूद्रके कौन-से कर्म हैं ?

चारों वर्णोंकी सेवा करना— यह शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ।।४४।।

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंको करनेसे क्या होता है भगवन् ?

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें निष्काम भावसे तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार परमात्माको प्राप्त होता है, उस प्रकारको तू मेरेसे सुन ॥ ४५ ॥

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको (परमात्माको) प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

अपने ही कर्मोंका अनुष्ठान क्यों करें भगवन् ?

भैया! जिसका अपने लिये निषेध किया गया है, ऐसे गुणयुक्त पर-धर्मसे अपना दोषयुक्त धर्म (स्वाभाविक कर्म) श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता। हे कुन्तीनन्दन ! दोषयुक्त होनेपर भी अपने

धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे आग जलानेके आरम्भमें धुआँ होता ही है, ऐसे ही प्रत्येक कर्मके आरम्भमें कोई-न-कोई दोष होता ही है ।।४७-४८।।

कर्मोंका आंशिक दोष भी न लगे, ऐसा कोई और भी उपाय है क्या भगवन् ?

हाँ, सांख्ययोग है। जिसकी बुद्धि सब जगह सर्वथा आसक्तिरहित होती है, जिसका शरीर वशमें होता है और जिसको किसी वस्तु आदिकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह नहीं होती, ऐसा मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा नैष्कर्म्य-सिद्धि (ब्रह्म-) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं और उसे कर्मोंका आंशिक दोष भी नहीं लगता ।।४९।।

उस नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त करनेका क्या क्रम है ?

अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य ब्रह्मको, जो कि ज्ञानकी परा निष्ठा है, जिस क्रमसे प्राप्त होता है, उस क्रमको तुम मेरेसे संक्षेपमें ही समझो। जो सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त, वैराग्यके आश्रित, एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला और नियमित भोजन करनेवाला साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका नियमन करके, शरीर-वाणी-मनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग-द्वेषको छोड़कर निरन्तर परमात्माके ध्यानमें लगा रहता है, वह अहंकार, हठ, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह (भोगबुद्धिसे वस्तुओंके संग्रह) का त्याग करके तथा ममता-रहित एवं शान्त होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।।५०-५३।।

ऐसा पात्र होनेपर क्या होता है भगवन् ?

वह ब्रह्मभूत-अवस्थाको प्राप्त प्रसन्न मनवाला साधक न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी इच्छा करता है तथा उसका सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाव हो जाता है। ऐसे साधकको मेरी पराभक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ५४ ॥

पराभक्ति प्राप्त होनेसे क्या होता है ?

उस पराभक्तिसे वह मैं जो कुछ हूँ और जैसा हूँ— इस तरह मेरेको तत्त्वसे जानकर तत्काल मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है ॥५५॥

आपकी प्राप्तिका और भी कोई बढ़िया उपाय है क्या ?

हाँ, बहुत बढ़िया उपाय है।

वह क्या है महाराज ?

जो अनन्यभावसे मेरा आश्रय लेता है, वह भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे निरन्तर रहनेवाले अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है ॥५६॥

तो मुझे क्या करना चाहिये ?

भैया ! तू केवल मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मोंको चित्तसे मेरे अर्पण कर दे अर्थात् सम्पूर्ण कर्म, पदार्थ आदिसे अपनापन हटा ले और तू समताको धारण करके निरन्तर मेरेमें मनवाला हो जा ॥५७॥

आपमें मनवाला होनेसे क्या होगा ?

मेरेमें मनवाला होनेसे तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जायगा। परन्तु अगर तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरा पतन हो जायगा ॥५८॥

पतन कैसे होगा ?

अहंकारका आश्रय लेकर तूने युद्ध न करनेका जो निश्चय किया है, तेरा वह निश्चय झूठा है; क्योंकि तेरा क्षात्र स्वभाव तेरेको युद्धमें लगा ही देगा। हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बँधा हुआ तू मोहके कारण जो युद्ध नहीं करना चाहता, उसको तू क्षात्र स्वभावके परवश होकर करेगा ॥५९-६०॥

वह क्षात्र स्वभाव कैसे युद्धरूप कर्म करायेगा महाराज ?

हे अर्जुन ! अन्तर्यामी ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। वह अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको उनके स्वभावके अनुसार घुमाता है ॥६१॥

इस परवशतासे निकलनेका उपाय क्या है ?

हे भरतवंशी अर्जुन! तू सर्वभावसे उस अन्तर्यामी ईश्वरकी ही शरणमें चला जा। उसकी कृपासे तुझे संसारसे सर्वथा उपरति और अविनाशी परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। मैंने यह गोपनीय-से-गोपनीय शरणागतिरूप ज्ञान तेरेसे कह दिया। अब तू इसपर अच्छी तरहसे विचार करके जैसा चाहता है, वैसा कर ॥६२-६३॥

मैं तो अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं करना चाहता भगवन्! आप ही बताइये कि मैं क्या करूँ ?

तब तू मेरे इस सम्पूर्ण गोपनीय-से-गोपनीय परमवचनको फिर सुन। तू मेरा अत्यन्त प्यारा है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात कहूँगा ॥६४॥

वह हितकी बात क्या है भगवन् ?

तू मेरा भक्त हो जा, मेरेमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन कर और मेरेको ही नमस्कार कर। ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त हो जायगा—यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्यारा है ॥६५॥

अगर मैं ऐसा न कर पाऊँ, तो भगवन् ?

सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल एक मेरी शरण प्राप्त कर। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू चिन्ता मत कर ॥६६॥

यह तो आपने बहुत सुगम और बढ़िया बात बतायी भगवन्! इस बातको मैं सबसे कह सकता हूँ क्या ?

नहीं-नहीं भैया ! इस अत्यन्त गोपनीय बातको असहिष्णु मनुष्यको मत कहना; जो मेरा भक्त नहीं है, उसको भी कभी मत कहना; जो इस बातको सुनना नहीं चाहता, उसको भी मत कहना और जो मेरेमें दोषदृष्टि रखता है उसको भी मत कहना ॥६७॥

पर, इसके सिवाय आपने जो और बातें कही हैं, उनको किससे कहना चाहिये ?

मेरे भक्तोंसे कहना चाहिये। जो मनुष्य मेरी पराभक्तिके उद्देश्यसे इस परम गोपनीय गीता-ग्रन्थको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त हो जायगा। इतना ही नहीं, उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला भी मनुष्योंमें कोई नहीं होगा और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा प्रिय भी कोई नहीं होगा ॥६८-६९॥

अगर कोई ऐसा कार्य न कर सके, तो ?

जो मेरे और तुम्हारे इस धर्ममय संवादका अध्ययन भी करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा— ऐसा मेरा मत है ॥७०॥

कोई अध्ययन न कर सके, तो भगवन् ?

दोषरहित जो मनुष्य केवल श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेशको सुन भी लेगा, वह भी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके ऊँचे लोकोंको प्राप्त हो जायगा ॥७१॥

हे पार्थ! मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि क्या तुमने इस उपदेशको एकाग्रचित्तसे सुना? और हे धनंजय! क्या तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हुआ ? ॥ ७२ ॥



अर्जुन बोले— हे अच्युत! मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति प्राप्त हो गयी है, पर यह सब हुआ है आपकी कृपासे, उपदेश सुननेसे नहीं! मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥७३॥

संजय बोले—हे राजन्! इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह रोमाञ्चकारी अद्भुत संवाद सुना ॥७४॥

यह संवाद तुम्हें सुननेको कैसे मिला संजय ?

यह अत्यन्त गोपनीय संवाद मैंने व्यासजीकी कृपासे साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके कहते-कहते सुना है, परम्परासे नहीं ॥७५॥

इस संवादको सुननेसे तुम्हारेपर क्या असर हुआ संजय ?

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पवित्र और अद्भुत संवादको याद कर-करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥

हर्षित होनेका और क्या कारण है ?

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विराट्रूपको याद कर-करके मेरेको बड़ा आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७७॥

अब तुम किस निर्णयपर पहुँचे हो संजय ?

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है— यही मेरा निश्चय है ॥७८॥



गृहस्थको चाहिये कि वह धन कमानेकी अपेक्षा बच्चोंके चरित्रका ज्यादा ख्याल रखें; क्योंकि कमाये हुए धनको बच्चे ही काममें लेंगे। अगर बच्चे बिगड़ जायँगे तो धन उनको और ज्यादा बिगाड़ेगा। इस विषयमें अच्छे पुरुषोंका कहना है—*'पूत सपूत तो क्यों धन संचै ? पूत कपूत तो क्यों धन संचै ?'* अर्थात् पुत्र सपूत होगा तो उसको धनकी कमी रहेगी नहीं और कपूत होगा तो संचय किया हुआ सब धन नष्ट कर देगा, फिर धनका संचय क्यों करें ?

—गृहस्थमें कैसे रहें नामक पुस्तकसे

आज भगवान्का भजन करनेवालोंको भगवान्की प्राप्ति शीघ्र होती नहीं दीखती, इसमें हेतु क्या है ? वे भगवान्पर इतना विश्वास नहीं करते, जितना उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंपर विश्वास करते हैं। अपने बलका विश्वास करते हैं। पता नहीं कि यह सब पलक मारते-मारते बिखर जायगा। *'ज्यूँ तारा परभात।'* ये कबतक ठहरेंगे ? इनपर जैसा विश्वास करते हैं, वैसा विश्वास भगवान्पर नहीं करते, यह गलती होती है। भगवान्के नाम-रूपको लेकर विवादमें पड़ना नहीं चाहिये और किसीकी श्रद्धामें ठेस नहीं लगानी चाहिये, फिर सिद्धि अवश्य होगी, इसमें संदेह नहीं है।

—कल्याणकारी प्रवचन भाग—२ नामक पुस्तकसे

गीताप्रेसकी निजी दुकानें

१. गोविन्दभवन-कार्यालय, १५१, महात्मागांधी रोड कलकत्ता—७. फोन—३८६८९४

२. २६०९, नयी सड़क, दिल्ली-६, फोन-३२६९६७८

३. अशोक राजपथ, पटना-४

४. २४/ ५५ बिरहाना रोड, कानपुर-९, फोन-२५२३५१

५. ५९/ ९ नीचीबाग, वाराणसी, फोन-६३०५०

६. सब्जीमण्डी, मोतीबाजार, हरिद्वार

७. गीताभवन, गंगापार, स्वर्गाश्रम, २४९३०४, फोन-१२२

नोट—विशेष जानकारीके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंका सूचीपत्र निःशुल्क मँगायें।

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा विरचित उपलब्ध साहित्य

१. साधक-संजीवनी (गीता हिन्दी-टीकासहित)
२. साधक-संजीवनी (गीता अंग्रेजी-टीकासहित)
३. गीताका आरम्भ
४. गीताका कर्मयोग (दो खण्डोंमें)
५. गीताका ध्यानयोग
६. गीताकी राजविद्या
७. गीताकी विभूति और विश्वरूपदर्शन
८. गीताका भक्तियोग
९. गीताका ज्ञानयोग
१०. गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा
११. गीता-माधुर्य (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, नेपाली, गुजराती, तमिल बंगला, कन्नड़)
१२. गीता-दर्पण (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी)
१३. गीता-परिचय
१४. वासुदेवः सर्वम्
१५. नित्ययोगकी प्राप्ति
१६. सहज साधना
१७. महापापसे बचो
१८. सन्तानका कर्तव्य
१९. आवश्यक शिक्षा
२०. गुरु तत्त्व
२१. एकै साधै सब सधै
२२. सत्संगकी विलक्षणता
२३. साधकोंके प्रति
२४. जीवनोपयोगी प्रवचन
२५. ल्याणकारी प्रवचन
२६ चिक प्रवचन (हिन्दी, गुजराती)
२७. मानसमें नाम-वन्दना
२८. वास्तविक सुख
२९. भगवन्नाम
३०. कर्म-रहस्य
३१. गृहस्थमें कैसे रहें ? (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, बंगला)
३२. भगवान्‌से अपनापन
३३. जीवनका सत्य
३४. भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
३५. स्वाधीन कैसे बने ?
३६. शरणागति
३७. भगवत्प्राप्ति सहज है
३८. सत्संगका प्रसाद
३९. अच्छे बनो
४०. जीवनका कर्तव्य
४१. जीवनोपयोगी कल्याणमार्ग
४२. सच्चा आश्रय
४३. नाम-जपकी महिमा
४४. मूर्ति-पूजा
४५. हम ईश्वरको क्यों मानें ?
४६. दुर्गतिसे बचो
४७. महापापसे बचो

मिलनेका पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)